हिन्दी नाटक

डॉ० बच्चन सिंह

श्रद्धेय आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

को

साग्रह और सादर

प्रथम संस्करण : १९५८ ईसवी

चार रुपया

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

श्रद्धेय आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

को

साग्रह और सादर

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी-नाटक के अन्तरंग का विवेचन-विश्लेषण लेखक का प्रमुख उद्देश्य रहा है। ऐसा करने मे उसके बहिरंग को छोड़ा नहीं जा सका है क्योंकि दोनों में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं है। अन्तरंग के इस विवेचन में एक-एक नाटक को अलग-अलग न लेकर एक प्रकार के नाटकों को समवेत रूप में लिया गया है। इससे लाभ यह हुआ है कि प्रवृत्तियो का तुलनात्मक छानबीन और एक ही तरह की टेकनीक की तुलनात्मक विवेचना की जा सकी है और लेखक नाटकों की लंबी तालिका तैयार करने तथा उनके स्थूल वर्गीकरण से बँच गया है।

टेकनीक की विवेचना के संबंध में हिन्दी नाट्यालोचन पर प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय अध्ययन का बुरा प्रभाव पड़ा। प्रसाद के नाटकों में तो घूम फिर कर वही अर्थप्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएँ और पंच संधियाँ दिखायी पड़ने लगीं। कुछ लोग अन्य नाटकों में भी इनकी तलाश में दौड़ पड़े। इसके परिणाम स्वरूप नाट्यालोचन एक पूर्व निर्दिष्ट घेरे में ही चक्कर लगाने लगा। अनुकरण सर्वदा बुरा होता है। इस घेरे में तो संस्कृत के श्रेष्ठ नाटक भी नहीं बँध सके हैं फिर हिंदी-नाटकों को उसमें क्यों बंद किया जाय? अतः मैंने अलग पद्धति अपनायी है और प्रसाद की टेकनीक की परख भी उसी के आधार पर की है।

लेकिन यहाँ पर यह कहना सचाई को स्वीकार करना है कि इस पुस्तक के लिखा लेने का सारा श्रेय भाई नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को है। नर्मदेश्वर जी इस पुस्तक के आदि, मध्य और अंत तीनो में अन्तर्वर्ती प्रेरणा-स्रोत के रूप में विद्यमान हैं। शास्त्रीय शब्दावली में

वे सूत्रधार कहे जा सकते हैं, यद्यपि आज के नाटकों में सूत्रधार नहीं होते। ऐसे व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता न ज्ञापित करना अन्याय है। किन्तु अपने निकटवर्ती बंधु के प्रति उसे प्रकाशित करना भी कहाँ का न्याय है!

हिन्दी-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

—लेखक

विषय-सूची

हिंदी नाटकों के उद्भव के पूर्व

संस्कृत-नाटकों की परंपरा

हिंदी के उपन्यास, कहानी तथा निबंध संस्कृत-साहित्य की क्रमागत परपरा से बहुत कम प्राप्त कर सके हैं। किंतु काव्य और नाटक सीधे उसके विकास-क्रम में पड़ते हैं। भारतेन्दु तथा उनका मडल सस्कृत की नाट्य प्रणाली से बहुत कुछ प्रभावित रहा; संस्कृत नाटकों के काव्यात्मक वातावरण, रूमानियत तथा टेकनीक की छाप प्रसाद के नाटकों पर स्पष्ट देखी जा सकती है। प्रसाद के परवर्ती नाटककारों की कृतियाँ भी किन्हीं अंशों में सस्कृत-नाटकों से अनुप्राणित हैं। ऐसी स्थिति में सस्कृत-नाटकों का संक्षिप्त विश्लेषण केवल शृंखला की कड़ियाँ मिलाने का औपचारिक कार्य नहीं माना जा सकता बल्कि समग्र नाट्य साहित्य के नैरन्तर्य तथा नवीन परिवर्तनों को समझने-समझाने में विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुमान और कल्पना के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित दैवी उत्पत्ति तर्क से पुष्ट न होने के कारण मान्य नहीं हो सकती। लेकिन 'न वेद व्यवहारोयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेद' पञ्चमं सार्ववर्णिकम्' से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि नाटक अत्यन्त लोक-प्रिय साहित्य था। सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष समान रूप से इसका रसास्वादन कर सकते थे। ऋग्वेद में पाए जाने वाले सूक्तों (जो संख्या में लगभग पंद्रह हैं) के संवाद-तत्त्व से नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ लेना कम भ्रमपूर्ण नहीं है। मैक्समूलर और

लेवी ने इन्हें यज्ञ के समय गाए जाने वाले सूक्त कहा है। किंतु दासगुप्ता और डे के मतानुसार यज्ञों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यम-यमी, इन्द्र-इंद्राणी आदि के संवाद परंपरानुकूल धार्मिक गीत भी नहीं कहे जा सकते। इनके विषय पौराणिक और निजंधरी कथाएँ हैं। ऋगवेद के मंत्रों को, धार्मिक गीतों और नृत्यों से संबद्ध कर, नाटकों के मूल में स्वीकार कर लेना तर्क-संगत नहीं है। ऋगवेद में सभी कुछ उत्सवों और धार्मिक संस्कारों से संबद्ध नहीं माना जा सकता। फिर, ऋगवेद के मंत्र पाठ्य हैं, गेय नहीं।

नाटकों की दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप लौकिक उत्पत्ति का सिद्धान्त सामने आया। पिशेल ने पुत्तलिका और छायानाटक को संस्कृत नाटक का पूर्व रूप निश्चित किया, किंतु दासगुप्ता और डे ने दोनों को नाटक का परवर्ती रूप मानकर पिशेल की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। महाभारत में पुत्त-लिका का जो निर्देश मिलता है उसकी तिथि के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। छाया-नाटक के ठीक-ठीक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पातंजल महाभाष्य में भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है। संस्कृत रूपकों के अनेक भेदों में इसका उल्लेख न होना इसको और भी संदिग्ध बना देता है।

यद्यपि उपलब्ध तथ्यों के आधार पर संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कृत नाटक धर्म तथा उसके विभिन्न संप्रदायों से बराबर प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। राम-कृष्ण के कथा स्रोतों से नाटकीय विषय-वस्तु का ग्रहण किया जाना, अभिनय के पूर्व कुछ धार्मिक कृत्यों का होना, भरत के नाट्यशास्त्र का शिव का ताण्डव और लास्य नृत्य का पुरस्कर्ता स्वीकार करना, नाटक के प्रारंभ में नांदी का प्रवेश आदि नाटकों को धार्मिक प्रभावों से बहुत कुछ संबद्ध कर देते हैं। जैन और बौद्ध धर्मों के नाटक सम्बन्धी दृष्टिकोण

के आधार पर भी हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। रामायण-महाभारत के पाठों के सम्बन्ध में संदेह होने के कारण उनके अभिनेता और अभिनेयता सम्बन्धी सन्दर्भों को प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। फिर भी नाटक पर इनके गहरे प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अनुमान और कल्पना को छोड़ देने पर संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किंतु इतना तो निर्विवाद है कि कविता की अपेक्षा नाट्कला का विकास कुछ पहले हो चुका था। इसके प्रमाण-स्वरूप संस्कृत के काव्य-शास्त्र के आचार्यों के उस कथन को उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें उन लोगो ने रस-सिद्धान्त को नाट्शास्त्र से ग्रहण करने की बात स्वीकार की है।

सस्कृत नाटकों में प्रयुक्त यवनिका शब्द के सहारे बेवर और कीथ आदि विद्वानों ने उन पर यवनानी प्रभाव देखने का जो प्रयास किया है वह आधुनिक खोजों के आधार पर मूलतः भ्रामक सिद्ध किया जा चुका है। यवनानी नाटकों में यवनिका का न तो कहीं प्रयोग मिलता है और न तो भारतीय नाटकों का पर्दा ही यूनान का बना हुआ होता था। भारतीय विट और यवनानी 'पैरासाइट' की सस्कृति में कोई मेल नहीं है। यवनानी नाटकों के किसी पात्र से शकार की समानता नहीं की जा सकती। सस्कृत नाटकों में यह खल पात्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है। टेक्नीक और प्रवृत्तियों को दृष्टि से भी इन दोनों देशो के नाटको में कोई समानता नहीं है। यवनानी नाटकों के समय और स्थान की अन्वितियाँ संस्कृत नाटकों में प्रायः नहीं पाई जातीं। दोनों के रंगमंचों में कोई उल्लेखनीय साम्य नहीं है। अधिकांश संस्कृति नाटक रोमैंटिक हैं तो यवनानी नाटक क्लासिकल।

संस्कृत साहित्य के अति दीर्घ और व्यापक नाटकीय परंपरा पर

किसी विदेशी नाटकीय परिपाटी का प्रभाव ढूढ़ना अपूर्वमहत्पूर्ण, निलिप्त और स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है। संस्कृत नाटकों की यह परंपरा अश्वघोष (ईसा की प्रथम सदी) से आरंभ होकर बीसवीं शताब्दी तक कभी त्वरित तो कभी मंथरगति से गत्यात्मक रही है। अश्वघोष के ताड़-पत्र पर लिखित कुछ नाटक मध्य एशिया में मिले हैं। इससे पता लगता है कि इस समय तक संस्कृत नाटक पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे। संस्कृत नाटक की जिस परंपरा का पता अश्वघोष के नाटको में दिखाई पड़ता है उसका चरम विकास कालिदास के नाटकों में हुआ। कालिदास ने स्वयं भास, सोमिल और कविपुत्र नाटककारों का नामोल्लेख किया है। सोमिल और कविपुत्र की रचनाएँ अभी तक नहीं प्राप्त हो सकी हैं किन्तु भास की अनेक रचनाओ का पता लग चुका है।[१] भास के कुछ नाटकों के कथानक निजंधरी कथाओं से लिए गए हैं और कुछ रामायण और महाभारत के आख्यानों पर आधारित हैं। भास के नाटक संस्कृत नाटकों की परंपरा के सर्वथा अनुकूल नहीं पड़ते। संस्कृत नाटकों की काव्यात्मकता, रूमानियत और अलंकृति पर भास ने उतना ध्यान नहीं दिया है। किन्तु ये नाटक क्रिया-क्षिप्रता, उलझन रहित सरल चरित्र और सरल रूप-विन्यास के कारण केरल में काफी प्रसिद्ध रहे हैं।

आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में कालिदास कवि पहले हैं और नाटककार बाद में। किंतु सच पूछिए तो नाटककार कालिदास का महत्व कवि कालिदास से कम नहीं आँका जा सकता। 'अभिज्ञान शाकुंतल' उनकी प्रतिभा का उत्कृष्टतम विकास है। इस नाटक में उनके कवि और नाटककार का अद्‌भुत मिश्रण दिखायी पड़ता है।

---

१ भास के १३ नाटकों का संपादन और प्रकाशन त्रिवेंडरम से गणपति शास्त्री ने किया है।

उनकी काव्य-प्रतिभा उनके नाटकों को त्रुटिपूर्ण न बनाकर नाटकीय चरित्रों और क्रियाओं को काव्यात्मक सवेगों से समन्वित करती है। काव्यात्मकता के कारण उनके नाटकों के सतुलन और नियंत्रण में कोई विक्षेप नहीं आ पाया है। किन्तु उनके नाटकीय वस्तु-विन्यास, रंगीन घटनाओं और सूक्ष्म मानवीय चरित्रों की अपेक्षा काव्यानुभूति की गहरी मर्म-स्पर्शता कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। उन्होंने भावुकता को प्रश्रय दिया है किंतु उनके ऊपर वह स्वयं हावी नहीं है। रोमांस उनके नाटकों का प्राणतत्त्व है किंतु उसका संतुलन कहीं बिखरा नहीं है।

कालिदास के परवर्ती काल (शूद्रक से भवभूति तक) में अनेक प्रकार के रोचक और उत्कृष्ट नाटकों की सृष्टि हुई। शूद्रक का मृच्छकटिक संस्कृत नाटकों में अप्रतिम है। मृच्छकटिक उन थोड़े सस्कृत नाटकों में है जिनमें संस्कृत की शास्त्रीय परिपाटी का अति-क्रमण कर अधिक व्यापक और गहरे जीवन की खोज की गई है। वस्तु-विन्यास की स्वाभाविक गतिशीलता, वैदग्धपूर्ण कथोपकथन, सामान्य जीवन के विविध चरित्र इस नाटक को आधुनिकों की रुचि के अनुरूप बना देते हैं। 'प्रियदर्शिका', 'नागानन्द' और 'रत्नावली' के रचयिता हर्ष मुख्य रूप से अलंकृति-प्रिय रचनाकार हैं। किन्तु इनकी अलंकरण-प्रियता में एक प्रकार की रोचकता दिखायी पड़ती है। ये अपने समय के विख्यात् नाटककारों में है, लेकिन ख्याति के मूल में इनकी प्रतिभा का उतना योग नहीं है जितना इनकी चेतनता (cousciousness) का।

नवीन दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत नाटकों की लंबी सूची में विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का स्थान अद्वितीय दिखाई पड़ता है। कथानक, विषय-प्रतिपादन तथा शैली की दृष्टि से संस्कृत के अन्य नाटकों के वर्ग से इसका कोई साम्य नहीं है। हृदय की कोमलता, रोमांस, धार्मिक प्रतिबन्धों के प्रति आदर की भावना आदि के लिए

इसमें कोई स्थान नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में जिस हृदयहीनता, कठोरता का परिचय मिलता है, 'मुद्राराक्षस' उसका जीवंत उदाहरण है। संस्कृत नाटकों में यथार्थवादी दृष्टिकोण उपस्थित करने वाला यह अत्यन्त उच्चकोटि का नाटक है। वस्तु-संघटन, चरित्र-चित्रण और क्रिया-व्यापार की दृष्टि से भी यह संस्कृत के अन्य नाटकों को काफी पीछे छोड़ देता है। भट्ट नारायण के 'वेणी संहार' का आधा नाटकीय है तो आधा काव्यात्मक। किंतु भट्ट नारायण न तो उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का परिचय दे सके हैं और न श्रेष्ठ नाटकीय कौशल का। भवभूति को भारतीय आचार्यों ने कालिदास के अनन्तर दूसरा स्थान दिया है। भवभूति मानवीय संवेदनाओं के अद्भुत पारखी थे। कालिदास के अनन्तर उनकी स्थापना का मुख्य कारण उनकी काव्य-संपदा है, नाटकीय कौशल नहीं।

भट्ट नारायण और भवभूति में जिस ह्रासोन्मुखता के बीज मिलते हैं, उनका विकास सन् ईस्वी की दसवीं शताब्दी के पश्चात् लिखे गए संस्कृत नाटकों में साफ परिलक्षित होता है। परिमाण की दृष्टि से नाटकों की रचना जितनी अधिक संख्या में हुई गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ नाटकों की संख्या उतनी ही कम दिखाई पड़ती है। इन शतियों में लिखे गए अधिकांश नाटक शास्त्रीय अनुबंधों से विजड़ित पूर्व नाट्यकृतियों की विकृत अनुकृतियाँ मात्र हैं। इस ह्रासोन्मुखी काल के प्रतिनिधि नाटककारों में मुरारि, राजशेखर, जयदेव और क्षेमीश्वर का नाम लिया जाता है। मुरारि के 'अनर्घराघव' का महत्व केवल कविता की दृष्टि से आँका जाता है। इसके कवित्व में भी प्रभात-कालीन ऊष्मा नहीं है, अस्तोन्मुखी सूर्य की पीत आभा है। राज शेखर का महाकाय 'बाल रामायण' कविताओं से भरा पड़ा है। अपने कथानक के अनगढ़पन तथा अनुपात के अनौचित्य के कारण यह काफी कुख्यात हो चुका है। जयदेव का 'प्रसन्न राघव' (१३वीं शताब्दी ईस्वी) मुरारि के 'अनर्घ राघव' की भाँति काव्योपजीवी,

क्रियान्विति-हीन और शिथिल है। क्षेमीश्वर का 'चंड कौशिक' अनेक करुण परिस्थितियों की सृष्टि करते हुए भी नाटकीय विशेषताओं से रिक्त है। हिन्दी नाटकों को संस्कृत की इसी क्षयशील परंपरा की विरासत मिली।

लोक नाटक

इधर लोकगीतों के अध्ययन से अनुप्राणित होकर अन्वेषकों ने हिन्दी-नाटकों के मूल स्रोत को लोकनाटकों में खोजने का प्रयास किया है। इस संबंध में डा० दशरथ ओझा ने लोक-नाटक के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ने का उपक्रम किया है, किंतु उनके सभी निष्कर्ष प्रायः अनुमानाश्रित हैं। स्वाँग-नाटक की परंपरा का संक्षेप में उल्लेख करते हुए वे यह नहीं बता सके हैं कि हिन्दी-नाटकों से इसका क्या संबंध है? नाट्य रासक, रासक और रास का कोई तर्क पूर्ण संबंध नहीं जुड़ पाता। संस्कृत के रूपकों में सट्टक और रासक को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक-नाटकों से गृहीत माना है।[1] प्रमाणों के अभाव में इसे अंतिम रूप से स्वीकार करना कठिन है। संस्कृत के नाट्य रासकों और अपभ्रंश के रासक-ग्रंथों में कोई उल्लेखनीय साम्य नहीं है। अपभ्रंश के रासकों को हिन्दी का आदि नाटक साहित्य स्वीकार करते हुए ओझा जी हिन्दी-नाटकों का उत्पत्ति-काल वि० की १२वीं शताब्दी निश्चित करते हैं। 'संदेश-रासक' को केन्द्र मानकर ओझा जी ने रासकों को दृश्य-काव्य मानने का जो आग्रह किया है वह तर्क-संगत नहीं प्रतीत होता। अब्दुल रहमान के कथन के आधार पर बहुरूपिए कथोपकथन के रूप में रासकों को

---

१ 'लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्य-शास्त्रियों ने इन्हें (सट्टक एवं रासक) रूपकों में स्थान दिया था।'

—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ९९-१०१

प्रदर्शित करते थे। लेकिन बहुरूपियों से इसका संबंध मात्र इसे नाटकीय गुणों से पूर्ण नहीं बनाता। डा० द्विवेदी ने रासकों को गेय काव्य माना है और संदेशरासक को एक उत्कृष्ट विरह-काव्य स्वीकार किया है। सच पूछिए तो संदेश रासक विषय तथा शैली दोनों दृष्टियों से दूत काव्य की परंपरा के अधिक मेल में दिखाई पड़ता है।

धार्मिक आन्दोलनों से रासलीला और रामलीला के रूप में लोक-रंगमंच की जो स्थापना हुई उसकी परंपरा आज भी चल रही है। इसका आविर्भाव कब हुआ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसे गीत-नाट्य का पूर्व रूप भी कहा जा सकता है। लेकिन लीला-मंचो का प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर नहीं पड़ा और न तो भक्ति भावना से ओत-प्रोत संवादों से ही हिन्दी नाटको ने कुछ ग्रहण किया।

'नौटंकी' उत्तर-भारत का अत्यन्त लोकप्रिय नाट्य है। डा० बाबूराम सक्सेना ने इसे उर्दू की कविता और लोक गीत से उद्भूत बतलाया है। ११ वीं १२ वीं शताब्दी में 'हीर राँझा' की कथा को नौटंकी का रूप दिया गया, ऐसा कहा जाता है; किंतु इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध है। १८ वीं शताब्दी तक नौटंकी समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो चुकी थी। नौटंकी में नगाड़े की ध्वनि पर खेल नियंत्रित किया जाता है। यह रात्रि में काफी देर से आरंभ होकर प्रातःकाल तक चलती रहती है।

रासलीला और रामलीला शुद्ध धार्मिक कथानकों को लेकर चलती हैं। इनके मूल में भक्ति-भावना का गहरा पुट है। लेकिन स्वाँग और नौटंकी में इहलौकिक प्रवृत्तियाँ इस सीमा तक बढ़ती गई हैं कि इनसे लौकिक रुचि अत्यधिक विकृत और फूहड़ हो गई। यद्यपि उपलब्ध सामग्री की कमी के कारण से स्वाँग और नौटंकी के विकास-क्रम की कोई रूप-रेखा नहीं खींची जा सकती फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि फूहड़पन की विकृतियाँ इनमें पहले से ही विद्यमान थीं। कबीर की बानियों और संत तुकाराम के अभंगों के

आधार पर इनके फूहड़पन को नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि इन संतों का वैराग्यमूलक दृष्टिकोण इस तरह के मनोरंजक कार्यों के प्रतिकूल पड़ता था। पंजाब में प्रचलित संगीत या नौटंकी के कथानक जो गोपीचंद, पूरनभक्त और हकीकतराय के लोकप्रिय जीवन से ग्रहण किए गए थे, इस बात को प्रमाणित करते हैं कि नौटंकियों द्वारा सर्वदा कुरुचिपूर्ण वातावरण की ही सृष्टि नहीं होती थी। रीतिकालीन शृङ्गार की अतिशयता और सामंतीय जीवन की विलासिता से जन-जीवन का असंपृक्त रह जाना संभव नहीं था। धीरे-धीरे इनकी मंडलियों में भी विकृतियाँ आयीं क्योंकि उनकी पेशेवर मनोवृत्ति के लिए जनता का सस्ता मनोरंजन करना अनिवार्य हो गया था।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन लोक-नाटकों का प्रभाव हिन्दी-नाटकों पर क्या पड़ा? वस्तुतः लोक नाटकों से हिन्दी-नाटकों को सीधे प्रभावित नहीं कहा जा सकता। इन लोक नाटकों और हिन्दी-नाटकों के बीच पारसी थियेटर कंपनियों का समय आता है। पारसी कंपनियों पर लोक-नाटकों के कुरुचिपूर्ण वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ा और इन कंपनियों का जो कुछ थोड़ा बहुत प्रभाव हिन्दी-नाटकों पर पड़ा उसके सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं रह गया है।

आज के हिन्दी-नाटकों को इन लोक नाटकों से क्या ग्रहण करना चाहिए? इस प्रश्न पर यहाँ विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं है। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है आज का नाटक लोक नाटकों से कुछ विशेष उपलब्ध नहीं कर सकता। उनकी पद्यबद्ध संवाद-शैली के संबंध में आज का वस्तुवादी युग विचार करना भी पसंद नहीं करेगा। हाँ, इन लोक-नाटकों के रंगमंच से बहुत कुछ प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है।

व्यवसायी नाटक मंडलियाँ

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पारसी थियेटरों की खूब धूम रही। इनकी स्थापना का मूल उद्देश्य धन उपार्जित करना था। अंग्रेजों की व्यावसायिक दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर बम्बई के पारसी पूंजीपतियों ने धनार्जन का नवीन ढंग निकाला। सन् १८७० के लगभग 'ऑरिजनल थिएट्रिकल कम्पनी' खोली गई। इस कम्पनी के खोलने का श्रेय सेठ पेस्टन जी फ्रेम जी को है। सन् १८७० में खुरशेद जी बल्लीवाला ने 'विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी' स्थापित की। पहली कम्पनी का कार्य-क्षेत्र बम्बई था और दूसरी का दिल्ली। कावस जी की 'अलफ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी' भी १८७० में ही खुली। इसके बाद तो पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों की बाढ़ आ गई।

यद्यपि नौटंकियों की चटक-मटक और गानों की बहार पारसी थिएटर में अभिनीत होने वाले नाटकों में भी पाई जाती हैं फिर भी कला की दृष्टि से उनसे ये कई कदम आगे हैं। अतिमानवीय दृश्यों को दिखलाने के लिए इन कम्पनियों ने शेक्सपीरीयन रंगमंच से आवश्यक उपादान ग्रहण किए। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी को एक रंगमंच प्राप्त हो गया।

जहाँ एक ओर इन कम्पनियों ने हिन्दी-रंगमंच को एक रूप प्रदान किया वहाँ सांस्कृतिक दृष्टि से जनता को पीछे ठेलने का प्रयास भी किया। इनके शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण से इसके अतिरिक्त और क्या आशा की जा सकती थी? इन कम्पनियों के लिए लिखे गए अधिकांश नाटकों के कथानक पौराणिक ही हैं किंतु जनता को 'चौंकाने' की मनोवृत्ति के कारण उन्हें विकृत करने में कोई कसर नहीं की गई है। धर्म के नाम पर, पौराणिक महापुरुषों की गाथाओं के नाम पर, देश की धर्म-प्राण किंतु निर्धन जनता को दीर्घकाल से चूसा जाता रहा है किंतु पारसी कम्पनियों की व्यावसायिका बुद्धि ने जो नया हथकंडा निकाला वह काफी सफल सिद्ध हुआ।

इन व्यावसायिक कम्पनियों की देन के सम्बन्ध में विचार करते समय कहा जाता है कि राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब, जौहर आदि ऐसे नाटककारों को पैदा करने का श्रेय इन कम्पनियों को ही है। हिन्दी को एक रंगमंच देने के लिये भी इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है। किंतु मेरी दृष्टि में इन कम्पनियों का कोई विशेष धनात्मक मूल्य न आँक कर इनके निषेधात्मक मूल्यों पर विचार करना अधिक संगत है। इन कम्पनियों की शोषणात्मक और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। हिन्दी-नाटकों के उदय के अनेक कारणों में पारसी कम्पनियों के प्रति गहरी प्रतिक्रिया को एक प्रमुख कारण मानना होगा। यह इनके महत्वपूर्ण निषेधात्मक मूल्य का द्योतक है।

हिन्दी नाटकों का प्रारंभ

संस्कृत की जिस ह्रासोन्मुखी परंपरा का उल्लेख पीछे किया गया है उसके मेल में प्राणचन्द चौहान के 'रामायण महानाटक' (सं० १६६७) बनारसीदास के 'समय सार' (सं० १६६३) रघुराज नागर के 'सभासार' (सं० १७५७) और लछिराम के 'करुणाभरण' (सं० १७७२) को रखा जायगा। नाटकीय गुणों से रिक्त इन छंदोबद्ध ग्रन्थों को नाटक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। काव्य की दृष्टि से भी इनका कोई विशेष मूल्य नहीं है। अनेक त्रुटियों के बावजूद भी रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह (सं० १८४६—१९११) के 'आनन्द-रघुनन्दन को हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र का 'नहुष' (सन् १८४१) 'आनन्द रघुनन्दन' की भाँति ब्रजभाषा में लिखा हुआ है। खड़ी बोली में नाटक लिखने का सूत्रपात हरिश्चन्द्र ने ही किया। अतः आज के हिन्दी नाटकों के जन्मदाता हरिचन्द्र ही ठहराए जायेंगे।

भारतेंदु का जन्म (१८५० ई०) जिस राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक उथल-पुथल के समय हुआ वह इतिहास में चिरस्मरणीय

रहेगा। उन्नीसवीं शताब्दी संसार के इतिहास को एक जबरदस्त मोड़ देने वाली शताब्दी है। यूरप के वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगिक क्रांतियों के प्रभाव से हमारा देश अछूता नहीं बचा। अंग्रेजों के संपर्क में आने पर हमारे देश को भी इन नए ज्ञान-विज्ञानों का परिचय मिला और इसके फलस्वरूप जीवन के प्रति उसे एक नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ।

अंग्रेज़ों ने अपने साम्राज्यवाद की जड़ें मजबूत बनाने के लिए देशी उद्योग-धंधों, आचार विचारों, संस्कृति-शिक्षा आदि पर जो सांघातिक प्रहार किए उनसे अनजान में इस देश का काफी ह्रास हुआ। प्राचीन जर्जर रूढ़ियों से चिपटे हुए भारतवासियों को नए ढंग से सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा।

अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद को और भी अधिक दृढ़ बनाने के संकल्प ने देश में अंग्रेजी शिक्षा का जो सूत्रपात किया उससे हमारे देश में पढ़े-लिखे व्यक्तियों का एक नया मध्य वर्ग पैदा हुआ। देश में नई राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने का श्रेय इसी वर्ग को है। परंपराभुक्त रूढ़ियों के दलदल में फँसे हुए देशवासियों को दिशा-निर्देशन का जो क्रांतिकारी 'रोल' इस वर्ग ने अदा किया उसे भुलाया नहीं जा सकता। भारतेंदु-मंडल के अधिकांश व्यक्ति इसी वर्ग के थे।

इस पढ़े-लिखे वर्ग में कुछ ऐसे लोग भी थे जो पाश्चात्य संस्कृति के सामने भारतीय संस्कृति को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखने के अभ्यासी हो गए थे। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की रूढ़ियों का दामन पकड़ने वाले ऐसे लोग भी थे जो नवीन विचारों के लिए अपने घर का कपाट बंद कर चुके थे। दोनो वर्ग अति के दो छोरों पर थे। यदि पहला ईसाइयत का झंडा उड़ानेवाला, हिन्दू धर्म का निंदक और पाश्चात्य संस्कृति का दास था तो दूसरा अपनी संस्कृति के बाहर सब कुछ 'अछूत' समझ रहा था। राजा राममोहन राय तथा उनके मित्रों ने एक समन्वय स्थापित किया और इसके फलस्वरूप

कलकत्ते में 'ब्रह्मसमाज' नामक संस्था की नींव डाली। इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण में आर्य समाज, थियोसाफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहा है। देश में वैचारिक क्रांति का बहुत कुछ दायित्व इन संस्थाओं तथा उनके पुरस्कर्ताओं को ही है। रीतिकाल की जो काव्य-परंपरा उन्हें विरासत के रूप में मिली थी, उससे सर्वथा मुक्त होना किसी भी दृष्टि से संभव न था। नाटक के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चन्द्र को हिन्दी की कोई उल्लेखनीय परंपरा नहीं मिली। कई दृष्टियों से इसे सौभाग्य ही माना जाना चाहिए। यदि भारतेंदु को ब्रजभाषा काव्य-परंपरा की तरह ब्रजभाषा की कोई नाट्य-परंपरा मिली होती तो कदाचित् उनके समग से नए ढंग के नाटकों का (वह भी खड़ी बोली में लिखे गए नाटकों का) प्रादुर्भाव न हो पाता। उन्होंने अंग्रेजी और बंगला की नवीनताओं से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी में भी नए ढंग के नाटक लिखने का उपक्रम किया।

जिस समय भारतीय समाज राजनीतिक-सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों के मोड़ से गुजर रहा था उस समय भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने उसकी ऊर्ध्वोन्मुखी शक्ति को पहचाना और उसे विकासमान बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। रुढ़ियों को प्रबल झटका देकर युगानुकूल मानों की जो अचूक परख उनको प्राप्त थी उसकी अभिव्यक्ति उनके नाटकों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। पारसी थियेटर की ह्रासोन्मुख कुत्सित प्रवृत्तियों के विरोध में भारतेंदु ने नए नाटकों की सृष्टि तथा नवीन रंगमंच की स्थापना की। भारतेंदु की प्रतिभा उस समय और भी श्रेष्ठतर और सूक्ष्मतर दिखाई पड़ने लगती है जब हम उन्हें स्वतंत्र रूप से नवीन सांस्कृतिक जागरण में योग देते हुए देखते हैं। कई सांस्कृतिक संस्थाएँ तो भारतेंदु के जीवन के उत्तरार्ध में पैदा हुईं, पल्लवित और पुष्पित तो वे और भी बाद में हुईं।

भारतेंदु ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि सामा-

जिक वास्तविकता की सबसे यथार्थ अभिव्यक्ति नाटकों में ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में छन्दोबद्ध नाटकों की अनुपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने गद्य का प्रवर्तन किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है कि—'विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ।' लेकिन सच तो यह है कि विलक्षण बात तब होती जब हिन्दी गद्य परंपरा का प्रवर्त्तन नाटकों से न होता। तत्कालीन परिस्थितियों में यही स्वाभाविक था। नाटक भौतिक जगत से घनिष्ठ-तम रूप से संबद्ध है। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम रचना-विधान है। दृश्य-काव्य होने के कारण भावों और विचारों को सामाजिकों तक प्रेषणीय बनाने का यह अत्यधिक समर्थ साधन है। विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की अवतारणा जितनी अच्छी तरह नाटक में की जा सकती है साहित्य के किसी अन्य रचना-प्रकार के माध्यम से उतनी अच्छी तरह नहीं की जा सकती। भारतेंदु हरिश्चन्द्र तथा उनके मंडल के लेखक अपनी समसामयिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गति-विधि के प्रति पूर्ण जागरूक थे। इनकी अभिव्यंजना के लिए, नाटक से बढ़कर और कौन रचना-प्रकार अपनाया जाता?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु के नाटकों का उचित मूल्यांकन करने के लिए उनके युग की संक्रमणात्मक स्थिति की गहराई में पैठना अत्यंत आवश्यक है। हाल में प्रकाशित कतिपय पुस्तकों में भारतेन्दु के नाटकों पर विचार करते समय या तो भारी भरकम तथा बेडौल सामाजिक पृष्ठ-भूमि दी गई है या फिर उनके नाटकों का सार देकर कुछ अधकच्चे निष्कर्ष निकाले गए हैं। उनके वैचारिक अन्तर्विरोधों का भी समझने का प्रयास प्रायः कम ही हुआ है। उनके अनूदित नाटकों के संबंध में कुछ चलती हुई बातें कह कर उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता और न तो उनके मौलिक नाटकों की मौलिकता को विष्कंभक, अंकावतार के न रखने में ही सीमित किया जा सकता है। सच तो यह है कि भारतेन्दु के नाटकों के रूप-विन्यास तथा विषय-वस्तु दोनों पर संक्रमण-कालीन परिवर्तनशीलता की गहरी छाप है। भारतेन्दु की देन को उचित महत्व देने के लिए इस परिवर्तनशीलता को उनके नाटकों के संबंध में देखना बहुत आवश्यक है। किंतु उनकी ठीक-ठीक परख तभी संभव है जब परिवर्तन शीलता के मरणोन्मुख, अनुन्मेषशील तत्वों तथा ऊर्ध्वमुखी जीवनोन्मुख उपकरणों का नीर-क्षीर विवेक किया जाय।

अनुवाद करने के लिए भारतेन्दु ने जिन नाटकों का चयन किया, उसके मूल में उनकी एक विशेष दृष्टि परिलक्षित होती है। एक ओर उन्होंने 'रत्नावली' का अनुवाद करना अधिक पसन्द किया तो दूसरी ओर 'मुद्राराक्षस' का। जहाँ 'कर्पूरमंजरी' का अनुवाद उनकी रुचि के अनुकूल पड़ा वहीं 'प्रबोध चन्द्रोदय' के एक खंड-दृश्य को 'पाखंड-विडंबन' के नाम से अनूदित करना उनके प्रतिकूल नहीं

प्रतीत हुआ। इन्हीं नाटको का अनुवाद भारतेन्दु ने क्यों किया ? केवल नाटिका-नाटक का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ये अनुवाद नहीं किए गए। 'रत्नावली' के संबंध में उन्होंने स्वयं लिखा है—'शकुंतला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है।' प्रकृति से ही सहृदय और रसिक होने के कारण उदयन की प्रेम कहानी में रुचि प्रदर्शित करना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं है। रीतिकालीन परंपरा से सर्वथा मुक्त न होने से भी यह दरबारी नाटक (court play) उन्हें प्रिय मालूम हुआ। व्यक्तिगत संस्कारों को जल्दी से उतार फेंकना किञ्चित कठिन कार्य है। अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और पञ्चसंधियों की दृष्टि से यह नाटक संस्कृत के नाट्य-साहित्य में अप्रतिम है। कदाचित् हिन्दी-नाटकों में इन प्रकृतियों आदि को समेटने की आकांक्षा से भी उन्होंने इसका अनुवाद-कार्य हाथ में लिया हो। लेकिन जब भारतेन्दु ने समझ लिया कि आज के युग के लिए रूढ़िग्रस्त परिपाटी सर्वथा अयोग्य है तब उन्होंने आधुनिक दृष्टि से संस्कृत के सबसे प्रौढ़तम नाटक मुद्राराक्षस का अनुवाद प्रस्तुत किया। शास्त्रीय व्यवधानों को निर्बाध रूप से अतिक्रमित कर जाने के कारण संस्कृत के रूढ़िग्रस्त पंडितों की दृष्टि में यह अधिक ऊँचा नहीं उठ पाया। फिर भी भारतेन्दु ने नवागत युग के लिए इसे अधिक श्रेयस्कर समझा। यह उनकी यथार्थोन्मुखता का परिचायक है। इस नाटक के उपसंहार (क) में रंगशाला में समय-समय पर गाए जाने वाले जिन गीतों के निर्देश किए गए हैं वे उनके राष्ट्रीय चेतना के द्योतक हैं[1]। शेक्सपियर के 'मरचेंट ऑफ वेनिस' के अनुवाद के मूल में उसका

---

[1] जग में घर की फूट बुरी।
घर के फूटहिं सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी।।
× × ×

नाटक की श्रेष्ठता के प्रति उनका उतना आग्रह नहीं है जितना उसके द्वारा प्राप्त नीतिमत्ता के प्रति। इन अनुवादों द्वारा उन्होंने हिन्दी को संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों के जिस मार्ग पर चलने का निर्देश किया उस पर चल कर हिन्दी इतने अल्पकाल में ही इतनी विकसित और प्रौढ़ हो गई।

विद्या सुन्दर नाटक जो बंगला का छायानुवाद है, एक विशेष दृष्टि-कोण के कारण ही गृहीत हुआ है। कुछ शोधकों ने इस पर व्यर्थ में ही प्रतीकात्मकता का लबादा उढ़ाया है। वह उनका आत्म-प्रक्षेपण (self-projection) है। विद्या न तो बुद्धि (wisdom) है और न सुन्दर तरुण तपस्वी। वास्तव में चौरपंचाशिका के लेखक का नाम चोर अथवा सुन्दर है और बंगला नाटक में निश्चय ही उसी आधार को ग्रहण किया गया होगा। इस नाटक के अनुवाद या छायानुवाद का मुख्य कारण है इसमें उठाई गई समस्या की सामयिक उपयोगिता। प्रेम-विवाह (Love marriage) को माता-पिता द्वारा अनुमोदित बाह्य विवाह की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर मानकर भारतेंदु ने आज के बहुत पहले इस अधुनातन समस्या के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया था। इसके नायक के इसे 'बुरे कर्म' कहने तथा नायिका को इसे 'अपराध' मानने के मूल में सामाजिक बंधनों का तकाजा ही समझना चाहिए। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की सृजन-प्रेरणा को किसी न किसी बाह्य सामाजिक स्रोत में ढूँढ़ निकालने का दावा करना दूर की कौड़ी लाना है। इसे छायानुवाद माना जाय या मौलिक कृति—यह विवाद भी कोई महत्व नहीं रखता। सच तो यह है कि जहाँ भारतेंदु ने अपने समाज की अनेक त्रुटियों को नाटक के

जग में तेई चतुर कहावै।
छल मैं पातक होत जदपि यह शास्त्रन मैं बहु गायो।
पै अरि सों छल किए दोष नहिं मुनियन यहै बतायो।

माध्यम से हमारे सम्मुख रखा वहाँ वे कुछ उच्च आदर्शों को भी सामने ले आए। 'सत्य हरिश्चन्द्र' सत्य के आदर्शों से ही अनुप्राणित है।

भारतेन्दु के मौलिक नाटक सर्वत्र प्रेम की 'कोमल-परुष रागिनी' से प्रतिध्वनित हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम है और सती-प्रताप में पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्ज्वल आदर्श। शेष मौलिक नाटक राष्ट्रीय चेतना की प्रभातकालीन ऊष्मा से आपूरित हैं। उनमें किसी स्थान पर देशवासियों को व्यंग्य के कशाघात से उद्बुद्ध किया जा रहा है तो किसी स्थान पर ऐतिहासिक घटनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा कर उन्हें जगाया जा रहा है। कहीं प्रतीकों के आधार पर देश की तत्कालीन अवस्था का करुण चित्र खींच कर देशवासियों में संवेगात्मक अनुभूति जगाई जा रही है तो कहीं माँ की असहायता और विपन्नता का नग्न दृश्य उपस्थित कर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से उनके मर्म का स्पर्श किया जा रहा है। इस तरह विविध विषयों और शैलियों द्वारा भारतेंदु ने राष्ट्रीय जागरण का जो शंख फूँका उसकी गूँज दूर तक फैल गई।

भारतेंदु की राष्ट्रीय चेतना के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि महारानी विक्टोरिया तथा कतिपय उच्चपदस्थ अंग्रेज अधिकारियों के प्रति उनके मन में जो अटूट विश्वास दिखाई पड़ता है वह उनकी राष्ट्रीय भावना को थोड़ा-बहुत स्खलित कर देता है। किंतु इस प्रकार की असंगति का सामंजस्य उस काल के वातावरण में ही खोजा जाना चाहिए। समयानुकूल देश की राष्ट्रीय चेतना में अपेक्षित परिवर्तन होता रहा है। भारतेंदु के अनन्तर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्तावों में भी अंग्रेजों के प्रति बराबर विश्वास प्रकट किया जाता रहा।[1]

---

१ 'कांग्रेस के पहले पच्चीस सालों में जिनके ऊपर कांग्रेस की राजनीति का दारोमदार रहा वे सरकार के दुश्मन नहीं थे। यह बात न

जब अंग्रेजी राज्य का सूर्य अपनी पूर्ण तेजस्विता के साथ तप रहा था तब राष्ट्रीय जागरण का कार्य कितना साहस पूर्ण तथा खतरनाक था उसे राजनीतिका साधारण विद्यार्थी भी अनुभव कर सकता है। फिर भी भारतेंदु का अव्याहत व्यक्तित्व और भी द्रुतगति से निरंतर अग्रसर होता गया। भारतेंदु के नाटकों की यह ऊर्ध्वोन्मुखता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इस संक्रांति-काल में अपने परिवेश की डाँवाडोल स्थिति का पूर्ण पर्यालोचन करते हुए भारतेंदु ने जो नव्यतर दृष्टि दी उससे हिन्दी साहित्य नव नव उन्मेषशील विचारों को आत्मसात् करता हुआ नित्य नूतन शैलियों से अपना शृंगार करने लगा।

वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, अभिनेयता आदि की दृष्टि से भारतेंदु के उन्हीं नाटकों पर विचार किया जा सकता है जो उनकी मौलिक कृतियाँ हैं। इस कोटि में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र' (?), 'प्रेमयोगिनी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी',[1] 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी' और 'सती प्रताप' नाटक आते हैं। इनमें 'प्रेमयोगिनी', विषस्य 'विषमौषधम्' और 'सती प्रताप' अधूरे हैं। अतः पूर्ण रूप से उन पर विचार नहीं किया जा सकता। अपने नाटकों को भारतेंदु ने नाटक के जो प्रकार माने हैं उनसे सर्वत्र सहमत होना भी कठिन है। शास्त्रीय कसौटी पर कसे जाने पर 'सती प्रताप' को नाटक नहीं माना जा सकता और न तो

केवल उन घोषणाओं से सिद्ध होती है जो समय समय पर उनके द्वारा की जाती थीं। बल्कि स्वयं सरकार ने भी उनके साथ रिआयतें करके जब जब हिन्दुस्तानियों को ऊँचे पद या स्थान देने का मौका पाया तब तब उन्हीं को उसके लिए चुनकर यही सिद्ध करती रही।'

—पट्टाभि सीतारमैया, 'कांग्रेस का इतिहास' भाग १, पृ० ५४

१ इसका आधार बंगला का कोई नाटक 'भारत माता' है।

'भारत दुर्दशा' नाट्य रास की श्रेणी में आता है। सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, चन्द्रावली नाटिका, अंधेर नगरी प्रहसन, भारतदुर्दशा अन्याप-देशिक एकांकी हैं। गीति की प्रधानता के कारण 'भारतजननी' को भारतेंदु ने 'ओपेरा' और 'नीलदेवी' को गीतरूपक कहा है। बंगला के 'भारतमाता' को कदाचित 'ओपेरा' कहा गया होगा। इसलिए भारतेंदु ने भी इसे ओपेरा का नाम दिया; 'नीलदेवी' आज के अर्थ में गीति-नाट्य नहीं है। उसे भी पुराने ढंग का ओपेरा ही समझना चाहिए।

सत्य हरिश्चन्द्र की मौलिकता के संबंध में हिन्दी में एक विवाद चल पड़ा है।[1] डा० सोमनाथ गुप्त ने इसके संबंध में लिखा है—'अपनी सपूर्ण स्थिति में 'सत्य हरिश्चन्द्र' न तो एकदम मौलिक ही है और न बिलकुल अनुवाद ही'। बीच के कुछ कथोपकथनों और श्लोकों के अनुवादों को निकाल दिया जाय तो नाटक बहुत कुछ मौलिक हो जाता है। आचार्यक्षेमीश्वर के संस्कृत नाटक 'चंडकौशिक' (जैसा इसके नाम से ही प्रकट है) का नायक विश्वामित्र है और 'सत्य-हरिश्चन्द्र' का हरिश्चन्द्र। ऐसी स्थिति में कथा को अपेक्षित मोड़ देना स्वाभाविक था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की पौराणिक कथा सरल और इकहरी है। चार-अंकों में जिन चार दृश्यों की योजना की गई है वे परस्पर पूर्णरूप से संबद्ध हैं। प्रथम अंक में 'इन्द्रसभा' की योजना

---

१. (क) दे०, ब्रजरत्न दास, 'हिन्दी नाट्य साहित्य', दूसरा संस्करण पृ० ६२

(ख) डा० सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य,' पृ० ४२-५०

(ग) डा० दशरथ ओझा, 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास,' पृ० २१२-१३

प्रथम और तृतीय सज्जनों ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' को मौलिक तथा द्वितीय ने रूपान्तरित नाटक माना है।

की गई है जिसमें नारद हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा का परिचय देते हैं। यह सुनकर इन्द्र में ईर्ष्या उत्पन्न होती है और वे विश्वामित्र के सहारे हरिश्चन्द्र को अपने व्रत से च्युत करने का उपक्रम करते हैं। किंतु विश्वामित्र से अकारण क्रोध तथा दूसरे अंक के कार्यों से कोई तार्किक संगति नहीं बैठ पाती। यदि प्रथम अंक में विश्वामित्र के सिद्धि-पाश से हरिश्चन्द्र द्वारा तीन महाविधाओं के बचाए जाने का उल्लेख कर दिया जाता तो विश्वामित्र की प्रतिशोध-भावना और दूसरे अंक की घटनाओ से कारण-कार्य का संबध स्थापित हो जाता। दूसरे अंक में हरिश्चन्द्र स्वप्न के फल-स्वरूप अपना समस्त राज्य विश्वामित्र को दान कर देते हैं। इतने बड़े दान के उपलक्ष में दक्षिणा देने के लिए पुष्कल धनराशि की आवश्यकता थी। यह समस्या कथा को स्वाभाविक ढंग पर आगे बढ़ाती है। तृतीय अंक द्वितीय अंक से पूर्णतया संबद्ध है। इसमें काशी के बाजार में हरिश्चन्द्र के बिकने का दृश्य अंकित किया गया है। इस अंक में लेखक ने कई मार्मिक स्थितियों (situations) की सृष्टि की है, जो नाटक के वातावरण को अत्यंत करुण बना देती हैं। नाटक में इन स्थितियों की परिकल्पना का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उनके निर्वाह का है। हरिश्चन्द्र की दयनीय दशा और विश्वामित्र की हृदयहीन भयानक क्रूरता को एक स्थिति में चित्रित कर लेखक सामाजिकों की संवेगात्मक अनुभूति जगाने में पूर्ण सफल होता है। शैब्या का विक्रय और बटुक के धक्के से शिशु राजकुमार का गिरना दूसरी मार्मिक स्थिति है जो नाटक की कथा-वस्तु में घनीभूत करुणा भर देती है। चौथे अंक में संपूर्ण नाटकीय घटनाओं को एक स्थान पर केंद्रित कर दिया गया है। यह केन्द्र स्थल है— श्मशान। श्मशान में हरिश्चन्द्र का शैब्या से आधा कफन माँगना इस नाटक की सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण किंतु करुणातम स्थिति है। इसी चरम सीमा पर नाटक, देवताओं के वरदान तथा रोहिताश्व के पुनर्जीवन के साथ, परिसमाप्त होता

है। काशी का विस्तृत वर्णन और श्मशान का लंबा विवरण वस्तु-विन्यास की गतिशीलता में विक्षेप डालता है। फिर भी समग्र रूप से इसका वस्तु-विन्यास सुलझा हुआ, सुसंबद्ध और गतिशील है। 'प्रेम-योगिनी' में चार दृश्य ही पूर्ण हो सके हैं। किंतु इनमें भी केवल इतनी ही सुसंबद्धता दिखाई पड़ती है कि काशी के चार विभिन्न स्थानों पर जुटने वाले व्यक्ति अपनी विभिन्नता में भी कुत्सित विचारों में एकता रखते हैं। चन्द्रावलीनाटिका में 'नाटिका' के सारे लक्षण[२] (कथा कल्पित, अंक चार, पात्र प्रायः स्त्री, नायक धीर ललित, नायिका नवानुरागिनी कन्या) पाए जाते हैं। कथा स्वाभाविक गति से विकसित होती है। चन्द्रावली प्रथम अंक में अपना स्नेह व्यक्त करती है, द्वितीय में प्रिय का अन्वेषण करती है। तृतीय में विरह से विह्वल दिखाई पड़ती है और चौथे अंक में प्रिय को प्राप्त करती है। चन्द्रावली का अनुराग पुष्ट से पुष्टतर होता हुआ अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। लंबे कथोपकथनों तथा कतिपय अनावश्यक दृश्यों के कारण कथा की गति शिथिल हो जाती है। चन्द्रावली की पूर्ण मानसिक स्थिति को व्यक्त करने के लिए कदाचित् नाटककार ने उनका सन्निवेश उचित समझा है। 'भारत दुर्दशा' अन्यापदेशिक नाटकों की कोटि में आता है जिसमें वस्तु-विन्यास का उतना महत्त्व नहीं होता जितना लेखक के दृष्टिकोण का। 'भारत-जननी' 'ओपेरा' है और इसमें वस्तु प्रायः नहीं है। 'नील देवी' का वस्तु-विन्यास अत्यन्त ऋजुपद्धति पर चलता हुआ दिखाई पड़ता है। घटनाओं का कार्य-कारण संबंध

---

२. नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीर ललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।
स्यादन्तःपुर संबद्धा संगीत व्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृप वंशजाः।
—साहित्य दर्पण ६-२६९-७०॥

कथा-वस्तु को आगे बढ़ाता है और नाटक को गति प्रदान करता है। पहले और दूसरे दृश्यों में विरोधी वातावरणों (cantrasting atmos phere) का सृजन दो विरोधी संस्कृतियों का सुन्दर चित्र अंकित करता है। चौथा दृश्य कथा को आगे बढ़ाने में कोई योग नहीं देता किंतु तत्कालीन मुसलमानों की प्रवृत्ति को अवश्य चित्रित करता है। पागल का दृश्य भी उसी प्रकार कथा का अंग नहीं हो सका है। शेष दृश्य एक दूसरे से अच्छी तरह संबंद्ध हैं। व्यापारों में सर्वत्रएक अन्विति दिखाई पड़ेगी। 'अंधेर नगरी' एक व्यंग्य मूलक प्रहसन है। इसके सारे पात्रों और समस्त घटनाओं का केन्द्र-बिंदु राजकीय अव्य-वस्था है। इसी केन्द्रीय बिंदु के चारों ओर सारा नाटकीय वाताव-रण घूमता रहता है। अपने उद्देश्य की व्यजना में ही इसका गौरव निहित है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में 'अंधेर नगरी' का तीखा व्यग्य नहीं है ! 'धर्म वंचकों' तक ही कथा को सीमित रखने के कारण यह धार्मिक प्रहसन (Religiousfarce) उतना प्रभावोत्पा-दक नहीं हो सका है।

भारतेंदु के नाटकों का वस्तु-विन्यास सम्बन्धी विश्लेषण करते समय अर्थप्रकृति, कार्यावस्थाओं और पंचसंधियों को मैंने अपने विवेचना-क्रम में स्थान नहीं दिया है। इसलिए भारतेंदु के नाटकों में इन्हें न पाकर कुछ लोग निराश हो सकते हैं। स्वयं भारतेंदु इस प्राचीन परिपाटी के बहुत दूर तक समर्थक नहीं थे। नाटक[1]

---

[1] अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी कहीं विलोभन, कहीं संफेट, कहीं पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्न पूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।

—सभा, भारतेंदु ग्रन्थावली, पहला खंड, पृ० ७२२

निबंध में ही नहीं बल्कि प्रेम जोगिनी के पारिपार्श्वक का यह कथन ...'उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और यह नाटक भी नई पुरानी दोनो रीति मिल के बना है।'[1] पुरानी रीति से उनका तात्पर्य थोड़ी सी बाह्य औपचारिकता—विष्कंभक, अंकावतार भरत वाक्य आदि से है। नई रीति के अनुसार उन्होंने देश-काल, पात्र आदि के साथ ही वस्तु-विन्यास की गति और व्यापारान्विति पर भी विशेष ध्यान दिया है। यह उनकी नवीन दृष्टि का परिचायक है।

हिन्दी नाटक की प्रारंभिक अवस्था में चरित्रों का सम्यक् विकास नहीं देखा जा सकता। चारित्र्य-सृष्टि के सम्बन्ध में भारतेंदु की जो देन है वह है संस्कृत की परंपरा (Convention) को अतिक्रमित करना। सत्यहरिश्चन्द्र, सत्यवान ऐसे पौराणिक तथा राजा सूर्यदेव जैसे ऐतिहासिक पुरुष पात्रों की सर्जना कोरा आदर्शवाद नहीं है। एक ओर जहाँ इन कर्त्तव्यनिष्ठ धार्मिक पात्रों की अवतारणा की गई है वहाँ मल्हारराव, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के राजा-मंत्री तथा 'अंधेर नगरी' के राजा को भी उपस्थित किया गया है। दोनों कोटि के राजाओं में कितना अन्तर हो गया है। इन राजाओं-महाराजाओं, महंथो-पुजारियों के अतिरिक्त सामान्य जीवन के विविध पात्रों—दलाल, गंगापुत्र, भड़ेरिया, कुंजड़िन, कवि, एडिटर आदि को उनके नाटकों में स्थान मिला है। यह संस्कृत की पिटी हुई परंपरा को पीछे छोड़ कर एक क्रांतिकारी कदम माना जा सकता है।

सत्यहरिश्चन्द्र के रूप में केवल सिद्धान्तों का आच्छादन नहीं है बल्कि उन्हें मानवीय भूमि पर उतारने का प्रयास किया गया है। शैब्या और रोहित को देखकर उनकी आँखें अश्रु-जल से आर्द्र हो जाती हैं, हृदय ममता से पिघल जाता है। किन्तु सत्य में भी

---

१ वही, पृ० २२४

अचल निष्ठा रखने वाले हरिश्चन्द्र धैर्य पूर्वक सब कुछ सहन करते हैं। दास होने पर स्वामी के कल्याण के लिए भगवती से वरदान माँगना हरिश्चन्द्र के चरित्र के ही अनुकूल है। महाविद्याओं को विश्वामित्र के सिद्धयर्थ उनके पास भेज देना उन्हें ही शोभा दे सकता है। रोहित की मृत्यु पर हरिश्चन्द्र के मरने का उपक्रम मानवीय स्वभाव के अनुरूप है। इस तरह के मनोवैज्ञानिक क्षणों में मानसिक अस्थिरता का अंकन भारतेन्दु की कुशलता और निरीक्षण शक्ति का परिचायक है। राजा सूर्यदेव का चरित्र सतीत्व का आदर्श उपस्थित करता है, यद्यपि उसके चरित्र को विकसित नहीं किया जा सका है। सतीप्रताप में सत्यवान एक टाइप है, पौराणिक सीमाओं के बाहर वह अंकित नहीं हो पाया है। अन्य नाटकों के सामान्य पात्रों के चरित्र चित्रण पर भारतेन्दु की दृष्टि कभी नहीं रही। उनके माध्यम से सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य करना उनका प्रधान लक्ष्य था।

स्त्री पात्रों में शैव्या, सावित्री और नीलदेवी पतिव्रता स्त्रियों का आदर्श उपस्थित करती हैं। शैव्या पति को सत्यनिष्ठ प्रमाणित करने के लिए अपने को बेंच देती है और अनेक प्रकार की विपत्तियों को सहन करने के लिए सन्नद्ध रहती है। एक विशेष मानसिक अवस्था में शास्त्रों को असत्य और देवताओं और ब्राह्मणों को पाखंडी कहना उसके दिव्य चरित्र को बहुत कुछ स्वाभाविक बना देता है। नीलदेवी मध्यकालीन राजपूत रमणियों के शौर्य का प्रतिनिधित्व करती है। चन्द्रावली की रचना एक विशेष धार्मिक दृष्टि से हुई है। वह माधुर्य-भाव से कृष्ण की उपासना करने वाली रमणी है।

चारित्र्य-सृष्टि की दृष्टि से भारतेन्दु का विशेष महत्व नहीं आँका जा सकता। इनके नाटकों के चरित्रों में उतार-चढ़ाव नहीं दिखाई पड़ता, न नाटककार के व्यक्तित्व से उनका व्यक्तित्व अलग हो पाया है। अनेक वर्गों, जातियों और पेशे के लोगों को उनकी प्रधान विशेषताओं के साथ रंगमंच पर ले आना एक ऐतिहासिक कदम है,

जो भारतेन्दु के व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है ।

पारसी नाटक की कुरीतियों के विरोध में भारतेन्दु ने कई नाट्य कंपनियों की स्थापना कराई और जनता की रुचि को परिष्कृत करने का प्रयास किया । उनके नाटकों की अभिनेयता में कतिपय त्रुटियाँ अवश्य मिलेंगी, किन्तु रंगमंच की दृष्टि से विचार करने पर साफ दिखाई पड़ता है कि वे जनता के समीप पहुँचना चाहते हैं । भाषा की सरलता, जनोपयोगी कथोपकथन, लोकप्रिय गीति-ध्वनियां सभी कुछ इसी के परिचायक हैं।

यह सब कुछ लिखने के पश्चात् भी भारतेन्दु की वास्तविक देन क्या है, इसका पूरा पूरा आकलन नहीं हो पाया है । भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य को एक मौलिक दृष्टिकोण दिया । उनके दृष्टिकोण की व्याप्ति में साहित्य के विविध रूप और अनेक विषय सन्निविष्ट हो जाते हैं । उनका मौलिक दृष्टिकोण जातीय जीवन की यथार्थता के नवीन पक्षों को उद्‌घाटित करता है और विकासोन्मुख नई प्रवृत्तियों को सतर्कता पूर्वक चित्रित करता है । भारतेन्दु के समय में नवीन-प्राचीन का जो संघर्ष चल रहा था उसमें भारतेन्दु ने उत्थानमूलक नवीन मान्यताओं को अपनाया, साथ ही भारतीय संस्कृति की मूल विचार-धारा का कभी तिरस्कार नहीं किया और न अविचारित ढग से नवीन विचारणाओं को प्रश्रय दिया ।

अपने समय, समसामयिक व्यक्ति, उनकी रुचियों और विशेषताओं को जब तक कोई साहित्यकार अच्छी तरह आत्मसात नहीं कर लेता है तब तक अपनी कृतियों में मौलिकता नहीं ले आ सकता । अपने अधिकांश नाटकों में राष्ट्रीय चेतना के नए पौधे को सप्राण बनाने की जो चेष्टा भारतेन्दु ने की है वह उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का कृतित्व है । 'भारत दुर्दशा' में पढ़े लिखे मध्य-वर्ग का एकत्र होकर आगत संकट से देश की रक्षा का उपक्रम करना उसी दिशा की ओर संकेत करता है । साथ ही वे कवि को सरल, सुबोध

और राष्ट्रीय कविता करने का संकेत देकर, एडिटर को व्यावहारिक सुझाव देकर तथा अन्य व्यक्तियों को उनकी त्रुटियों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट कर भारत दुर्दशा को दूर करने की मंत्रणा देते हैं। कांग्रेस की स्थापना के कई वर्ष पूर्व अपने महाराष्ट्र पात्र के मुख से राष्ट्रोद्धार का उपाय बतलाते हुए वे लिखते हैं—'तो सार्वजनिक सभा का स्थापन करना। कपड़ा बीनने की कल मँगानी। हिंदुस्तानी कपड़ा पहिनना। यह भी सब उपाय हैं।' इस नाटक के गीतों में एकता की ओर हमारा बार-बार ध्यान आकृष्ट किया जाता है और पारस्परिक कलह, फूट, मदिरापान आदि कुटेवों को 'भारत दुर्दशा' का प्रधान कारण बतलाया जाता है। भारत दुर्दैव के रंग निर्देश से जो आधा 'क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी' वेश में है, भारतेंदु के वास्तविक लक्ष्य का पता लग जाता है। 'भारत जननी' में भी एकता पर बल दिया गया है। 'अंधेर नगरी' के घासीराम और पाचक वाला चूरन बेचने के बहाने हाकिमों के द्विगुणित कर लगाने, अमलों के घूस लेने, महाजनों के अत्यधिक लाभ उठाने, अंग्रेजों के सारे भारत को उदरस्थ कर जाने, पुलिस के अनियमित कार्य करने की जो चर्चा करते हैं उससे उस समय के अधिकारी और धनीवर्ग की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। इस तरह लूट-खसोट से आक्रान्त राज्य में सामान्य जनता को क्या सुख प्राप्त हो सकता है?

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्यकार एक विशेष साहित्यक रूप विन्यास (form) का सहारा लेता है। रंगमंच की प्रभावोत्पादकता को समझते हुए भारतेंदु ने देश की राष्ट्रीय चेतना को जगाने के लिए नाटक का सहारा लिया। उन्होंने अपने ढंग से जीवन और राष्ट्र की अनेक समस्याओं को परखा और जनता को एक दिशा विशेष की ओर मोड़ा। उनके व्यक्तित्व की छाप केवल उनकी कृतियों पर ही नहीं दिखाई पड़ती बल्कि उनके समसामयिक तथा परवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं पर भी दिखाई पड़ती है।

भारतेन्दु-युग : नाटक की विविध दिशाएँ

जिस तरह के नाटकों का सूत्रपात भारतेंदु ने किया उसका सिल-सिला बराबर जारी रहा। यद्यपि प्रसाद के आगमन तक कोई एक व्यक्तित्व ऐसा नहीं हुआ जो नाट्य-रचना में भारतेन्दु के समकक्ष बैठाया जा सके फिर भी समग्र रूप से नाटक की स्थिति विकासोन्मुखी रही। रोमांटिक प्रेम को विषय-वस्तु के रूप में स्वयं भारतेंदु ने ग्रहण नहीं किया, पर उनके परवर्ती नाटककारों ने इसे भी अपना प्रतिपाद्य बनाया। शेष नाट्य-दिशाएँ वही थीं जिनकी ओर भारतेन्दु ने इंगित किया था : सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक (प्रहसन)। यहाँ पर सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इस काल के अधिकांश नाटक नीतिपरक हैं। नीतिपरक नाटकों का अभिप्राय अंग्रेजी के मोरैल्टी नाटकों का नहीं है। बालकृष्ण भट्ट के एक कथन से इस तरह की गलतफहमी पैदा हो सकती है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्'—इस तरह के सैकड़ों हजारों चोखे से चोखे जिनके एक एक पद में 'मारल्स' टपका पड़ता है विलायत के किसी साहब ने उन्हें (भारतीय ऋषिगण को) आकर सिखाया था। तब यह कहना कि 'मोरालिटी' अंग्रेजी तालीम के साथ गिरी है, निरा बकमोल और हिमाकत है।' भट्ट जी के इस कथन को भारतेन्दु युगीन नाटकों पर चस्पा नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी के 'मोरैलिटी' नाटकों की मुख्य विशेषता थी सैद्धान्तिकता का प्रचार और उनके चरित्र भी सिद्धांतों के ही मानवीकरण होते थे। उनमें से बहुत से नाटक तो सत्ताधारी वर्ग (aristocratic society) के लिए लिखे गए थे। पर इस काल के

कुछ ही ऐसे नाटक होंगे जिनमें सिद्धान्तों का मानवीकरण किया गया है। सत्ताधारियों के प्रीत्यर्थ इनके लिखे जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि समान्यतः नाटककार प्रगतिशील मध्यवर्ग के थे। कुछ नाटकों में सत्ताधारी प्रभुओं का उल्लेख या उनके बड़प्पन का चित्रण देखकर ऐसी धारणा बनाना कि उनका सृजन प्रभुसत्ता वर्ग के प्रीत्यर्थ हुआ था अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण है। इसको ठीक ठीक समझने के लिए तत्कालीन समाज के अन्तर्विरोध को समझना होगा। भारतेंदु के नाटकों का विश्लेषण करते समय, इस पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जा चुका है। इस काल के नाटकों की प्रवृत्तिगत विवेचना करने पर इस अन्तर्विरोध का और भी अधिक उद्घाटन हो सकेगा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल के नाटकों को कई कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—रोमांटिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक (प्रहसन)। इन त्रिविध नाटकों के सृजन के पीछे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का विशेष योग था। रोमांटिक नाटकों पर रीतिकालीन परिवेश और परवर्ती प्रेमाख्यानकों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सामाजिक, पौराणिक और व्यंग्यात्मक (प्रहसनों) नाटकों का मुख्य उद्देश्य था—समाज का सुधार-परिष्कार। वास्तविकता यह थी कि पाश्चात्य संस्कृति के अधड़ को रोकने के लिए बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह के करुण दृश्य और विधवा-विवाह के समर्थन के चित्र अंकित किए गए। रामकृष्ण की लीलाओं द्वारा अपनी विस्मृत संस्कृति को याद किया गया। पौराणिक चरित्रों की अवतारणा से सत्य, दान, पातिव्रत आदि के आदर्श उपस्थित किए गए। देश-दुर्दशा संबंधी नाटकों द्वारा राष्ट्रीय भावना के जगाने का प्रयत्न हुआ। प्रहसनों द्वारा समाज के भ्रष्टाचारियों पर तीव्र कशाघात किया गया।

रोमांटिक नाटक

परंपरा से चली आती हुई साहित्यिक धारा से विच्छिन्न होकर साहित्य में सहसा किसी नई धारा का प्रादुर्भाव नहीं होता। एक युग की विशेषताएँ कुछ समय तक दूसरे युग में भी चलती रहती हैं। रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति इस काल की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी दिखाई देती है। इन नाटकों के कथानकों पर परवर्ती प्रेमाख्यानकों का प्रभाव भी देखा जा सकता है—नायिका को प्राप्त करने में वही अलौकिक साहस और वियोग में विरहाग्नि की वही ज्वाला। पर इन रोमांटिक नाटकों का मुख्य उद्देश्य भी लोगों को शिक्षा देना ही था। इस काल के दो प्रतिनिधि रोमांटिक नाटकों की प्रस्तावनाओं में इनके उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। लाला श्री निवासदास के 'रणधीर प्रेममोहनी' की भारतेंदु लिखित प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है—'"'सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है, क्योंकि यहाँ के लोग कौतुकी बड़े हैं, दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी और तरह से नहीं, तो मैं भी क्यों न कोई ऐसा नाटक खेलूँ जो आर्य लोगों के चरित्र का शोधक हो...'[1] किशोरी लाल गोस्वामी की 'मयंक मंजरी' की नटी, सूत्रधार के यह पूछने पर कि इसी नाटक के खेलने पर इतना आग्रह क्यों है, उत्तर देती है;—"यही कि इसमें मयंक मंजरी ने स्वयंवर हो के सती धर्म की मर्यादा रखी है...'[2]

'रणधीर प्रेम मोहिनी' में स्थान-स्थान पर अनेक उपदेश भरे पड़े हैं। जहाँ कहीं लेखक को अवसर मिला है वहाँ कोई न कोई उपदेश जड़ दिया गया है। प्रत्येक बात को परीक्षा के उपरान्त ही

---

१ श्री निवास ग्रंथावली, सभा, पृ० ६

२ मयंक मंजरी, पृ० ३

स्वीकार करना, मैत्री का निर्वाह, मितव्ययता, समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि अनेक बातों का सन्निवेश इस नाटक में हुआ है।

'मयंक मंजरी' में भी बीच-बीच में उपदेश मिलेंगे पर श्री निवासदास की भाँति किशोरी लाल गोस्वामी अवसर-अनवसर सर्वत्र उपदेश देने के लिए कमर कसे हुए बैठे नहीं प्रतीत होते। वे भी उपयुक्त अवसर आने पर प्रसंग-गर्भित उपदेश की चर्चा करने में नहीं चूकते पर इन दोनों रोमांटिक नाटकों के उपदेश देने की विधि में एक अन्तर और है। 'रणधीर प्रेम मोहिनी' का लेखक दुनिया भर के-उपदेशों को एक ही स्थान पर एकत्र कर देना चाहता है पर 'मयंक मजरी' के लेखक ने पातिव्रत धर्म को ही अपने उपदेश का केन्द्र माना है। वीरेन्द्र, सुकेशी आदि अनेक पात्रों का प्रतिनिधित्व करते हुए जावालि ऋषि कहते हैं—"... देखो बेटा त्रैलोक्य में किसी की भी सामर्थ्य नहीं है कि तुमारी सी सती पति परायणा का सतीत्व नाश कर सके।"

इन उपदेशों के रहते हुए भी दोनों नाटक विषय और विधान की दृष्टि से रोमांटिक हैं। रणधीर और वीरेन्द्र अद्भुत साहसी, वीर और पराक्रमी हैं। अपनी प्रेमिकाओं के लिए ये जिस तरह साहस का परिचय देते हैं वह मध्यकालीन शौर्य की याद दिलाता है। रीतिकाल के परवर्ती नायक-नायिका-भेद की छाया से घिरे रहने के कारण सभी प्रमुख पात्रों में छिछोरापन भी आ गया है। 'रणधीर प्रेम मोहिनी' को हम रोमांटिक सुखान्तकी और मयंक मंजरी को रोमांटिक सुखान्तकी कह सकते हैं।

'रणधीर प्रेम मोहिनी' का ऐतिहासिक मूल्य चाहे जो आँका जाय पर कला की दृष्टि से वह अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है। कथा-वस्तु के संघटन की दृष्टि से यह बहुत शिथिल और अगतिपूर्ण है। बीच-बीच में उपदेशों की भरमार ने नाटक की गति को अत्यन्त मंद और

विकर्षक बना दिया है। प्रथम अंक और द्वितीय अंक में घात-प्रतिघात का कोई विशेष संबंध नहीं स्थापित हो पाता। चौबे, सरोजनी, सुखवासी लाल, नाथूराम की वार्ताओं और कथाओं ने नाटक को अनावश्यक रूप से लंबा तथा प्रवाहच्युत कर दिया है। इसकी अपेक्षा मयंक-मंजरी की कथा-वस्तु अधिक गठी हुई है। प्रथम अंक की घटनाएँ दूसरे अंक की घटनाओं से कारण-कार्य के रूप में जुड़ी हुई हैं। इस तरह दूसरे-तीसरे और चौथे अंकों की घटनाओं को परस्पर संबद्ध समझना चाहिए। पर इसका पाँचवा अंक व्यर्थ में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है; वस्तुतः नाटक चौथे अंक में ही समाप्त हो जाता है। इस नाटक की सबसे बड़ी त्रुटि है कविताओं की भरमार जिससे कथानक के प्रवाह में काफी बाधा पड़ती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन नाटकों में व्यक्तित्व खोजना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह युग ही इस तरह की चारित्रिक सृष्टि के अनुकूल नहीं था। रणधीर धीरोदात्त नायक है, पर आंशिक रूप में रीतिकालीन सामंतों से भी मिलता-जुलता है। 'मयंक मंजरी' का वीरेन्द्र तो रीतिकाल के पिछले खेवे की कविताओं में वर्णित नायकों का रोल अदा करता हुआ दिखाई देता है। अंतर इतना है कि जहाँ पहला एकनिष्ठ नायक है तो वहाँ दूसरा बहुनिष्ठ। पर अपने कथोपकथनों द्वारा वीरेन्द्र बहुत कुछ शोहदा प्रतीत होने लगता है। प्रेममोहिनी और मयंक-मजरी दोनों नायिकाएँ टिपिकल रीतिकालीन हैं जो तत्कालीन चुहलबाजी, छेड़छाड़, तीरे-नजर और इशारे बाजी की कला में प्रवीण हैं। फिर भी इनका प्रेम ऐकांतिक और एकनिष्ठ है।

अपनी त्रुटियों के बावजूद भी उस युग के ये महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। 'रणधीर-प्रेम मोहिनी' हिन्दी का पहला दुखान्त नाटक है। मयंक-मजरी के उस कलागत वैशिष्ट्य का उल्लेख अत्यंत आवश्यक है जिसकी ओर अभी तक किसी की दृष्टि नहीं गई है। पश्चिमी नाटकों

की देखा देखी एक अंक में एक दृश्य की योजना का जो श्रेय लक्ष्मी नारायण मिश्र को दिया जाता है वह किशोरीलाल गोस्वामी को मिलना चाहिए। 'मयंक-मंजरी' में यही पद्धति अपनाई गई है और कदाचित् यह अंग्रेजी की नकल नहीं है। श्री निवास दास का 'तप्ता-संवरण' और अमान सिंह गोठिया का मयंक-मंजरी नाटक भी रोमांटिक नाटक हैं।

ऐतिहासिक रोमांस

ऐतिहासिक नाटकों की दृष्टि से भारतेंदु काल सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। भारतेंदु की 'नील देवी' की परंपरा में कुछ नाटक लिखे अवश्य गए, पर राधाकृष्ण दास के 'महाराणा प्रताप सिंह' के अतिरिक्त एक भी अन्य नाटक उल्लेखनीय नहीं है। श्री निवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर', काशीनाथ खत्री का 'सिंधु देश की राजकुमारियाँ' और 'गुन्नौर की रानी' शालिग्राम का 'पुरुविक्रम' राधाकृष्ण दास का 'महारानी पद्मावती' आदि केवल नाममात्र के ऐतिहासिक नाटक हैं। इनमें कुछ लघु लघु ऐतिहासिक रूपक हैं, कुछ अर्ध ऐतिहासिक आख्यान।

इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य था—भारतीय महापुरुषों के विस्मृत गौरव का स्मरण दिलाकर देश के आत्म-गौरव को पुनर्जागरित करना। 'महारानी पद्मावती' के उपक्रम में राधाकृष्ण दास ने लिखा है—'पूज्यपाद भाई साहब बाबू हरिश्चन्द्र जी भारतेन्दु ने जब 'नील देवी' लिखा, मुझसे आशा की कि भारतवर्ष में अब ऐसे ही नाटकों की आवश्यकता है जो आर्य संतानों को अपने पूर्व पुरुषों का गौरव स्मरण करावें अतएव तुम कोई नाटक इस चाल का लिखो...।' अन्य ऐतिहासिक नाटकों का मूल उद्देश्य भी यही है।

'महाराणा प्रतापसिंह' अपने समय का अत्यंत लोकप्रिय नाटक रहा है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि यह

कई बार रंगमंच पर अवतरित किया गया। पर वस्तु-योजना, नाटकीय परिस्थितियों की सर्जना आदि की दृष्टि से इसमें कई खामियाँ भी हैं। जैसे, नाटक का द्वितीय अंक किसी भी तरह कथावस्तु का अंग नहीं हो पाया है। इसके निकाल देने से नाटक में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आती। इसी तरह चौथे अंक का पहला गर्भांक निरर्थक है। इस तरह कुछ व्यर्थ के गर्भांकों का समावेश और भी हुआ है।

मूल कथावस्तु के अतिरिक्त, जिसे शास्त्रीय शब्दावली में आधिकारिक कथावस्तु कह सकते हैं, गुलाबसिंह और मालती का कथानक प्रासंगिक कथावस्तु के रूप में आता है। पर यह मूलकथा को गति देने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं सिद्ध हो सका है। अंत तक इसकी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है। पर मालती और गुलाबसिंह के प्रेम-व्यापारों द्वारा नाटकीय वातावरण को रसमय जरूर बना दिया गया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सभी प्रमुख पात्र उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं। महाराणा उत्कट देश प्रेम की बलिवेदी पर अपना सब कुछ उत्सर्ग कर देने वाले महापुरुष हैं। भामाशाह का अभूतपूर्व त्याग इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय है। गुलाब और मालती आदर्श देशभक्त और सच्चे प्रेमी हैं। पृथ्वीराज आत्मभिमानी राजपूत है तो अकबर गुणग्राही मुसलमान।

भाषा की दृष्टि से मुसलमान पात्र सलीस उर्दू का प्रयोग करते हैं जो सामान्यतः सामाजिकों को सहज बोधगम्य नहीं है। हिन्दू पात्रों की भाषा कहीं पर शुद्ध हिंदी है तो कहीं पर बोलचाल की हिन्दी।

अपनी त्रुटियों के बावजूद भी अपने युग के नाटकों में इसका विशिष्ट स्थान है। लेकिन यहीं पर इस प्रश्न को भी सुलझा लेना आवश्यक है कि क्या अनभिनेय होने पर कोई नाटक उच्चकोटि

का नहीं हो सकता ? अथवा उच्चकोटि के नाटकों के लिये अभिनेय होना क्या अनिवार्य है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उच्चकोटि के नाटकों और अभिनेता के सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रथम श्रेणी के नाटक और अभिनेता के सम्बंध में पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में अधिक विवाद हुए हैं। स्वयं अरस्तू ने इस विवाद का श्री गणेश किया था। उसने बतलाया है कि दुःखान्तकी का प्रभावोत्पादक ढंग से अभिनय किया जा सकता है, लेकिन अभिनय, वेश-भूषा आदि का दुःखान्तकी के औदात्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। रंगमंच द्वारा जो प्रभावोत्पादन किया जाता है उसका दायित्व नाटक-कार की अपेक्षा अभिनेताओं पर अधिक है। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि महान नाटको को रंगमंच पर उतारने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पढ़ने मात्र से भी वे हमें प्रभावित करते हैं। १७वीं शताब्दी के एक फ्रांसीसी विद्वान दैबियर ने लिखा है कि रंगमंचीय अलंकृति नाटक के सौंदर्य में अभिवृद्धि करती है लेकिन स्वयं नाटक को अपने आप में अच्छा अथवा बुरा नहीं बनाती। लेसिंग का कहना है कि "There is no real relation between elaborate scenry or splendid theatcical edifices and great drama itself।"[1] लैंब ने तो इससे कहीं आगे बढ़कर यहाँ तक कह डाला है कि 'महान कृतियाँ रंगमंच पर कदाचित्त ही उतनी सफ-लता से अभिनीत हो सकती हैं जितनी सफलता से कवि-नाटककार की लेखनी से निर्मित होती हैं।'[2]

---

१ डा० राघवन के Bhoja's Sringar Prakash, Vol I part I के पृष्ठ ८५ से उद्धृत।

२ A masterpiece is rarely as well represe-nted as it is written, one diocrity always fares

भरत ने अपनी नाट्यशाला में अभिनय के सम्बंध में काफी लंबी चर्चा की है। भारतीय साहित्य परंपरा (योरोपीय साहित्य परंपरा भी इसी के मेल में है) में नाटक को सर्वोत्तम काव्य-प्रकार कहा गया है। वामन इसे 'सर्व विलसित' की संज्ञा देता है। भारतीय आचार्यों ने पूर्ण रस साक्षात्कार के लिये नाटक का अभिनय आवश्यक माना है। एक विलक्षण बात यह है कि नाटक की इतनी प्रशंसा करते हुये भी संस्कृत के आचार्यों ने इसकी पृथक श्रेणी न निर्धारित करके इसे काव्य के ही अंतर्गत रखा। इसकी विशेषता प्रकट करने करने के लिए उन्होंने इसके साथ 'दृश्य' शब्द अवश्य जोड़ दिया है। इससे स्पष्ट है कि दृश्य-काव्य में काव्यत्व प्रमुख है और दृश्यत्व गौण। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि भारतीय आचार्यों ने नाटक को सर्वजन सुलभ पंचम वेद माना है। योरोप की भाँति वैयक्तिकता पर यहाँ कभी उतना जोर नहीं दिया गया। रस-चर्वणा तो पूर्ण निर्वैयक्तिकता पर ही संभव हो सकती है। दृश्यत्व को गौण स्वीकार करते हुए भी उसे बहिष्कृत न करना सामूहिक चेतना में उनकी आस्था का द्योतक है। योरोपीय विद्वानों की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है कि काव्याभ्यास और प्राक्तन पुण्य के बल पर सहृदयों को काव्य से ही प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। उनके लिए अभिनेयता अनपेक्षित है।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक में मुख्य है काव्यत्व अर्थात् विषय-वस्तु। इसकी इस प्रमुखता पर पूर्व और पश्चिम दोनों स्थानों में समान बल दिया गया है। अभिनेयता की दृष्टि से त्रुटि पूर्ण होने पर भी विषय-वस्तु की संवेदनीयता के आधार पर किसी नाटक को उच्चकोटि का माना जा सकता है।

---

better with the actors.

—वही, पृ० ८५।

किन्तु इस युग का कोई भी नाटक इस दृष्टि से भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

प्रहसन

इस काल में प्रहसन काफी संख्या में लिखे गए। सांस्कृतिक दृष्टि से जो संक्रांति इस समय उपस्थिति थी वह प्रहसनों की सर्जना के बहुत अनुकूल थी। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से एक ओर जहाँ नव जागरण का आलोक फैला वहाँ दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न भी होने लगा। अतः तत्कालीन प्रहसनों में नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप प्राचीन रूढ़ियों, घिसी हुई परंपराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया तथा समाज के परिपंथियों को प्रहसनों का आलंबन बनाया गया। भारतीय संस्कृति की रक्षा के निमित्त पाश्चात्य विचारों के अंधड़ में उड़ने वाले लोग व्यंग्य के आधार तथा हास्य के पात्र बने। इस काल के लेखकों की जिन्दादिली के कारण भी प्रहसनों की रचना में सहायता मिली।

आलंबन की दृष्टि से विचार करने पर इस समय मुख्य रूप से दो प्रकार के प्रहसन लिखे गए। पहले प्रकार के प्रहसनों के आलंबन हुए अंध-विश्वासी, रूढ़िवादी, धर्म की ओट में अपना उल्लू सीधा करने वाले पंडे, पुरोहित, धर्मगुरु, वेश्यागामी पुरुष आदि और दूसरे प्रकार के प्रहसनों के मुख्य आलंबन हैं पाश्चात्य संस्कृति में डूबे हुए नव शिक्षित। इनके अतिरिक्त इन प्रहसनों द्वारा तत्कालीन समाज की कुछ अन्य खामियों तथा आर्थिक स्थितियों पर भी प्रकाश डाला गया।

देवकी नंदन के 'जयनारसिंह की' का विज्ञापन है—'इस प्रहसन के बनाने और छापने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि नौतिहा (ओझा) आदि वंचकों की धूर्तता और जो लोग उन पर विश्वास करके वैद्यक शास्त्र को तुच्छ समझते हैं उनकी अज्ञानता का प्रकाश

ोवै । यह बात गुप्त नहीं है कि इस भारतवर्ष में उक्त वंचकों की ुष्टता और उन पर विश्वास करनहारों की मूर्खता से प्रतिदिन कितनो जीव नष्ट होते हैं—आश्चर्य तो यह है कि बहुत से पढ़े-लिखे ानुष्य इनके जाल में फँस जाते हैं, फिर भला वे पढ़ों की कौन कहे ।' ाधाचरण गोस्वामी के 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' में र्मगुरुओं के व्यभिचारों का उद्घाटन किया गया है । वेश्यागामी ा परतिय गामी पुरुषों को एक ओर जहाँ हास्य का पात्र बनाया या है वहाँ स्त्री के पातिव्रत की प्रतिष्ठा भी की गई है । राधाकृष्ण- ास के 'बूढ़े मुँह मुँहासे' में परनारी गमन का दुष्परिणाम चित्रित ज्या गया है । 'देशी कुतिया विलयती बोल' एक दूसरी धारा का तिनिधित्व करता है जिसमें पाश्चात्य संस्कृति में ढले व्यक्तियों को ास्य का आलंबन बनाया गया है । इसके निष्कर्ष के रूप में भगवती हता है—'अब मैं कान ऐंठता हूँ अपने किए का अच्छा फल या । अब मैं और किसी को अपने लड़के को विलायत भेजना तो रहा अंग्रेजी पढ़ाने तक न कहूँगा (दर्शकगण से) महाशय गण ेखा न, यही तो लड़के को विलायत भेजने का फल है—बोये पेड़ ूल का आम कहाँ से होय—' पर यहीं पर नाटक समाप्त नहीं ता । विलायत से लौटे मि० सहाय को कुत्ते का मुँह लगाया जाता तथा पाश्चात्य सभ्यता में पली मिसेज प्रसाद की नाक काट ली ाती है ।

इनके अतिरिक्त सरकारी अहलकारों, पुलिस, पोस्टमैन आदि धाँधली को भी व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है । खड्गबहादुर ा के 'भारत आरत' और गोपालराम गहमरी के 'देश दशा' में हें देखा जा सकता है । अंबिकादत्त व्यास की 'देशी घी और चर्बी' ्यवसायिक कुरूपता का अच्छा नमूना है ।

इन प्रहसनों में प्रसंगात् कुछ ऐसी बातों का भी संनिवेश हुआ जो तत्कालीन समाज के कुछ अन्य पहलुओं पर भी प्रकाश डालते

हैं। उदाहरण के लिए खड्गबहादुर मल्ल के 'भारत आरत' के दो उद्धरण देखिए। पहले उद्धरण में एक बंगाली बाबू से मनस्ताप का चित्रण है जो अपनी वैयक्तिक उन्नति के लिए अपने धर्म और भाषा को छोड़ देता है—'...(बहुत रोकर गद्गद् स्वर से) हा हम इङ्गरेजी पड़ा। हम क्रिशचियन बना। हम कोट पतलून पहरा। हम बूट पहर के रोटी खाया। हम ब्राण्डी पिया। हम अपना धर्म छोड़ के ब्रह्मो हुआ। हम गवर्नमेंट का शच्चा शुभचिंतक हूआ। हम अंग्रेजों को एतना मदद दीआ। हम मोहरानी का प्यारा प्रजा होना माँगा। हम स्वप्न में भी दूसरा राजा का मूख देखना नहीं मांगता। सो हमारा ऐसा दशा ? हमारा शब अधिकार छीना गेआ।'

दूसरा उद्धरण उन लोगों के मुँह पर आज भी करारा तमाचा जड़ता है जो मौके-बे-मौके विदेशी भाषा बोला करते हैं। इसमें एक बंगाली बाबू को अदालत में अंग्रेजी बोलते सुनकर अंग्रेज मजिस्ट्रेट गाली देता हुआ कहता है—'शूअर! हम तुमसे अंगरेजी बोलना नई मांगटा। अपना मुलक का बोली बोले।' अपनी भाषा के प्रति इस प्रकार की चेतना सन् १८८५ ई० में तथा इसके पहले भी दिखाई पड़ती है, पर आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिन पर अंग्रेज मजिस्ट्रेट की उस गाली का कुछ असर नहीं है।

'अंधेर नगरी' (१८८५ ई०) में टके की महिमा का वर्णन करते हुए जातिवाला कहता है—

'लावो हमको एक टका, तुमको अभी बनावें कका।
एक टके पर छोड़ें जात, कलवारन घर खावें भात।
एक टके पर आरज होंय, जाति-पांति से खारिज होंय।
टका मिलै तो चोरी करैं, चाहें नर्क करोरी परैं।
माता पिता अरु बहनो भैया, सबको बेचा टके सवैया।'

आज जिन पूँजीपतियों, सरमायादारों आदि के विरुद्ध आवाज

उठाई जा रही है उसकी क्षीण ध्वनि भारतेंदु काल में भी सुनाई पड़ती है। इस काल के प्रहसनों की छानबीन करने पर समाज विरोधी कार्य करने वाले वही लोग दिखाई पड़ते हैं, जो धनी मानी या जमीन्दार हैं। जमीन्दारों के मनमाने पन का संकेत करते हुए खड्गबहादुर मल्ल ने उन्हें 'वृश्चिक राशि' का कहा है।

टेकनीक की दृष्टि से इन प्रहसनों का विशेष महत्त्व नहीं आंका जा सकता पर तत्कालीन समाज की दृष्टि से ये मूल्यवान रचनात्मक कृतियाँ हैं। आगामी युगों के प्रहसनों की इमारतों के लिए ये प्रहसन नींव के पत्थर का काम करते हैं।

सामाजिक नाटक

इस काल के सामाजिक नाटकों का केन्द्र-विंदु 'नारी-समस्या' है। नारी-समस्या का अर्थ वर्तमान युगीन मनोवैज्ञानिक और आर्थिक समस्या नहीं है। इस तरह की समस्याओं का सन्निवेश उस समय के नाटकों में हो भी नहीं सकता था, क्योंकि ये समस्याएँ उस युग की परिधि के बाहर आती हैं। तत्कालीन नाटकों में चित्रित नारी-समस्या के मूल में सुधारवादी दृष्टिकोण है जो मुख्यतः प्राचीन आदर्शों और नवीन भावनाओं से समन्वित है। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पति-निष्ठा की प्रतिष्ठा की गई और नवीन भावनाओं के फलस्वरूप बाल्य विवाह, पर्दाप्रदा आदि का निषेध तथा विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा आदि का समर्थन किया गया। बालकृष्ण भट्ट के 'जैसा काम वैसा परिणाम', राधाकृष्ण दास के 'दुःखिनी बाला' आदि नाटक ऐसे ही हैं।

बालकृष्ण के 'जैसा काम वैसा परिणाम' में एक ओर जहाँ नारी के पातिव्रत्य को रखा गया है वहीं पुरुष के वेश्यागमन का कुपरिणाम भी चित्रित किया गया है। इनके साथ ही नारी जीवन के कतिपय अन्य पहलुओं को भी उसी के भीतर समेटने का प्रयास हुआ है।

'जैसा काम वैसा परिणाम' की मालती का कथन तत्कालीन नारी जीवन के कतिपय रूढ़िग्रस्त पक्षों को सामने रखता है—'कभी हमसे बोलते नहीं इस बात का हमें कुछ दुख नहीं है जो कुछ बदा था सो भया जी से सुखी रहैं जो भावै सो करैं...। नारी के समान घिनौना जन्म किसी का न होगा, जिसने पुर्बले में बड़े बड़े पाप कर रखे हैं वही स्त्री का जन्म पाते हैं। पराधीन, तिस पर भी अनेक यातना जैसे पिंजरे में बन्द पखेरू हो। सूर्यदेव भी जिसका मुख कभी न देखते हों, न हवा-अंग स्पर्श कर सकती हो वही नारी सती कलावती, पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है जिसने बाहर कभी पाँव न रखा हो। लिखने-पढ़ने से चरित्र बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें लिखना-पढ़ना नहीं सिखलाया जाता...। आठ ही वर्ष से हमें ब्याह देते हैं सो भी बिना देखे भाले, बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट हो जाता है।' इस उद्धरण में पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, अशिक्षा आदि पर व्यंग्य किया गया है पर अभी नारी की ऐसी स्थिति नहीं कि वह इन परिस्थितियों के प्रति विद्रोह कर सकती। अभी उसके जीवन की सार्थकता इसी में निहित है कि 'अपना आदमी जो तन दे तो तिरिया जात को और चाही का ! उसके समान और भाग्यवान और कौन होगा।'

मालती का पति भयंकर शराबी और वेश्यागामी है फिर भी मालती प्राचीन रीति के अनुसार उसके प्रति अत्यधिक निष्ठावान है। प्रकारान्तर से इस नाटक में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र का भी विरोध किया गया है, जिनके चकमें में अशिक्षित और भावुक स्त्रियाँ सहज में ही आ जाती हैं।

'दुःखिनीबाला' की सरला अपने भाग्य को कोसती हुई कहती हैं—'हाय ! हमारी यह दशा क्यों हुई ? जन्म-पत्र और बाल्य विवाह से ! यदि जन्म-पत्र न होता तो क्यों ऐसे मूर्ख से मेरा विवाह होता ? यदि बाल्य विवाह न होता तो क्यों न मैं स्वयं अपनी भलाई-बुराई

को समझकर अपने इच्छानुसार पति करती...।' सरला स्वयं विधवा-विवाह करने पर प्रस्तुत है। इसके समर्थन में वेद शास्त्र आदि का हवाला देकर वह अपने पक्ष को पुष्ट भी करती है। पर रूढ़िग्रस्त समाज में उसकी दलीलों को सुनने वाला कौन है!

'दुःखिनी बाला' का नाम पहले 'विधवा-विवाह-नाटक' रखा गया था। इसकी नायिका श्यामा शरीर के स्वाभाविक धर्म का समुचित नियंत्रण न कर सकने के कारण अपनी सहेली के पर-पुरुष-संबंध के सुझाव को स्वीकार कर लेती है। पर सामाजिक भय की अवहेलना करने की शक्ति अभी नारी में नहीं आ पाई थी और इसके फलस्वरूप उसे भ्रूण हत्या करनी पड़ती है। किंतु बाद में उस नाटक को किञ्चित् परिवर्तन के साथ दूसरे नाम से प्रकाशित कराया गया। इसमें 'सरला' विषपान द्वारा अपनी इहलौकिक लीला समाप्त कर देती है।

एक नाटक को तुरन्त दूसरे रूप में परिवर्तित कर देने के मूल में जो वैचारिक अन्तर्विरोध है उसके विश्लेषण का विशेष महत्व है। 'विधवा विवाह नाटक' में जो यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है वह बाद में आदर्शवाद में बदल दिया गया है। लगता है कि आदर्श और सुधार के इस युग में घोर यथार्थ के प्रति भी लेखक जागरूक होने लगे थे, पर सामाजिक रूढ़ियों के खुले तिरस्कार की शक्ति उनमें अभी नहीं आई थी।

इस परंपरा में और बहुत से नाटक लिखे गए। पहले ही कहा जा चुका है कि नारी के पातिव्रत्य पर विशेष बल देते हुए पर-स्त्री-गमन का निषेध किया गया। भट्ट जी ने 'जैसा काम वैसा परिणाम' के प्रारंभ में एक संस्कृत श्लोक का पद्यानुवाद करते हुए लिखा है—

> "पर-तिय-गमन' समान, नहिं कुकर्म कोउ आन जग।
> सुख ज्यों भीषण भान, हरत आयु यह नरन कै॥"

लाला जवाहर लाल वैद्य ने पर स्त्री-गमन छोड़ने के निमित्त 'कमल मोहिनी भँवर सिंह नाटक' (१८६६ ई०) लिखा। उसकी भूमिका में उन्होंने प्रार्थना की है—'देखिए नव धर्म शास्त्र में यह लिखा है तब तो आपको अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यदि आप लोग करोगे तो आपको अत्यंत पुण्य होगा और आपका यश जगत में फैलेगा, सो आप लोगों को चाहिए कि मेरी इस प्रार्थना को सफल करो कि हम कभी पर-स्त्री-गमन नहीं करेंगे।'

बाबू गोपाल राम गहमरी ने 'विद्या विनोद' में तत्कालीन अनेक सामाजिक समस्याओं को समाहित करते हुए कहा है—'यह नाटक किसी भाषा का अनुवाद नहीं है केवल कल्पना मात्र है। इसमें ओझाई-देवाई पर विश्वास करने वाले, पुत्रोत्पादन की अभिलाषा से दस, पाँच ब्याह कर स्त्रियों का जीवन भार करने वाले, मूर्खों की मूर्खता और केवल टिप्पणी की तुलना और गणना करके अनमेल तथा बेजोड़ ब्याह करने वालों की निष्फलता, वर-कन्या के परस्पर प्रबल और उचित प्रेम एवं एक विद्वान और नीति निपुण स्त्री की विद्वता से प्रण और साहस द्वारा उसके सतीत्व और पातिव्रत धर्म का निर्वाह प्रभृति भली भाँति दिखलाने का उद्योग किया गया है...'

नारी जीवन की समस्याओं के अतिरिक्त गो-संकट की आवाज भी उठाई गई। गो-संकट को दूर करने के लिए गाय की आर्थिक और धार्मिक महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' के मेल में 'भारतोद्धार', 'भारत आरत,' 'भारत सौभाग्य', 'देश रक्षा' आदि नाटकों की रचना की गई। इन नाटकों का स्वर भारतेंदु के 'भारत दुर्दशा' से भिन्न नहीं है।

पौराणिक नाटक

पौराणिक नाटकों की रचना दो दृष्टियों से की गई—एक तो अपने पूर्व पुरुषों की याद दिलाकर प्राचीन गौरव को उद्बुद्ध करने

के लिए और दूसरे पौराणिक चरित्रों के आधार पर उच्च भारतीय आदर्शों की ,पुनः प्रतिष्ठा तथा नवीन युग-चेतना को प्रतिभासित करने के लिए। प्रथम दृष्टि के अनुसार रामायण महाभारत के अनेक आख्यानो को नाटक का रूप दिया गया। श्रीनिवास दास का 'प्रह्लाद चरित', शालिग्राम के कई नाटक, बालकृष्ण भट्ट का 'वृहन्नला' भारतीय सस्कृति के गौरव-बोध की दृष्टि से लिखे गए हैं, यद्यपि यह दृष्टि किसी भी रूप में दिखाई नहीं पड़ती है। भट्ट जी के ही दूसरे पौराणिक नाटक 'वेणु संहार' में राष्ट्रीय चेतना आवश्यकता से अधिक उभरी हुई दिखाई देती है, जो प्रत्यक्ष रूप से इतनी समसामयिक हो गई है कि पौराणिक वातवारण के मेल में नहीं कही जा सकती। प्राचीन आदर्शों को प्रमुखता देने के लिए 'अंजना-सुन्दरी' ऐसे पौराणिक नाटको का सृजन हुआ। इसकी भूमिका में लेखक ने लिखा है—Since the publication of my primary work 'Shil Sanitri Natika' having found that it has met the appreciation of the men of leading and light as an instructive story for the yong women of India, I have been cherishing innumerable new ideals for the betterment of the moral condition of the fair sex, and in order to lay them before the public in an interesting drama, I have selected this story so that it may be both novelty and didactic'. भावार्थ यह कि भारतीय नारियों की नैतिकता को ऊँचा उठाने के लिए उन्होने नवीन आदर्शों को प्रस्तुत किया।

नाट्यकला के विकास की दृष्टि से भारतेंदु-मंडल द्वारा प्रस्तुत तथा इस मंडल के बाहर के लेखकों द्वारा लिखित नाटकों का विशेष महत्व नहीं है। ये समस्त नाटककार भारतेंदु द्वारा निर्मित राजमार्ग का अनुसरण करते हुए अग्रसर हो रहे थे। बहुत से नाटककारों से

तो ठीक ठीक अनुकरण भी नहीं हो सका। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह समस्त युग पूरी तरह प्रगतिशील कहा जा सकता है। इस युग के नाटकों में युग की राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक आदि प्रवृत्तियों का जो आकलन किया गया है वह व्यंग्य, विनोद, करुणा, आशा-निराशा आदि के चित्रण से और भी प्रभावशाली हो गया है। यहाँ यह बात भी कह देनी चाहिए कि इन नाटकों के पीछे जो सोद्देश्यता छिपी हुई है वह अनेक स्थलों पर इस तरह स्पष्ट हो गई है कि कोई चाहे तो इन्हें उपदेशात्मक (डाइडेक्टिक) नाटक कह सकता है। उपदेशात्मकता की यह प्रवृत्ति द्विवेदी युगीन नाटकों में स्पष्ट होकर आ गई है।

प्रसाद : नाटक की नई दिशा

प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी नाट्य साहित्य में एक नया अध्याय जोड़ता है। उन्होंने हिन्दी-नाटकों का नवीन शैली से शृंगार ही नहीं किया बल्कि उनमें नूतन प्राण-प्रतिष्ठा भी की। पर वे केवल शैलीगत औपचारिकता के कारण नई दिशा के निर्देशक नहीं ठहराए जा सकते। अब तक के हिंदी नाटकों के पात्र नाटककार की छाया मात्र थे, प्रसाद ने उन्हे स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया। अपने नाटकों में प्रसाद ने शील-निरूपण का जो प्रयास किया वह हिंदी नाट्य साहित्य के लिए नई बात थी। हिंदी नाट्य-साहित्य का काफी विकास हो जाने पर भी शील-निरूपण के पुरस्कर्ता के रूप में उनका महत्व सर्वदा अक्षुण्ण रहेगा।

प्रसाद गहन जीवन द्रष्टा थे, इसलिए नाटकों के बाह्य पक्ष को सँवारने में उनका मन उतना न रम सका जितना जीवन की उलझन-पूर्ण गहन समस्याओं के विश्लेषण में। मूलतः रोमैंटिक होने के कारण बाह्योपचारों की उपेक्षा करना उनके स्वभाव के अनुकूल था पर भारतीय संस्कृति के प्रति अटूटआस्था ने उनके रोमानी दृष्टिकोण को एक सीमा तक नियंत्रित भी किया। इसलिए प्रसाद की नाट्य कृतियों का आकलन करने के लिए किसी एक सुनिश्चित माप का प्रयोग करना खतरे से खाली नहीं है।

उनके नाटकों की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, अभिनेयता आदि उनके स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र दृष्टिकोण के सूचक हैं।

वस्तु-योजना

सामान्यतः कथा, इतिवृत्त और वस्तु को समान अर्थ में प्रयुक्त

किया जाता है; किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर तीनो में थोड़ा अर्थ-भेद दिखाई पड़ता है। काल-क्रमानुरूप व्यवस्थित घटनाओं का कथन कथा है, साकांक्षता की योग्यता इसका अनिवार्य गुण है। इतिवृत्त में तथ्य का कथनमात्र होता है और इसमें रसार्द्रता नहीं पाई जाती। कथाओं के कालानुक्रम में अपेक्षित परिवर्तन करते हुए उन्हें नये अनुक्रम में बाँधना वस्तु के अन्तर्गत आता है। पर नाटकीय वस्तु-योजना अन्य साहित्य रूपो की वस्तु-योजना से बहुत कुछ भिन्न होती है। नाटक दृश्य-काव्य है। इसलिए रंग-मंच से पृथक् इसकी वस्तु-कल्पना का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। कथा-वस्तु को मनोनुकूल रूप देने के लिए नाटककार रंगमंचीय सीमाओं को अनिवार्य रूप से दृष्टि में रखता है।

संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों में नाटकीय वस्तु-विन्यास पर विचार करते हुए उसे कुछ रूढ़ नियमों में बाँध दिया गया है। कथा-वस्तु की दृष्टि से इतिहास को पाँच भागों में बाँटा गया है—बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी तथा कार्य; और कार्य-शृंखला की दृष्टि से भी उसके उतने ही भेद किये गये हैं—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। इन पाँच अर्थ-प्रकृतियों और अवस्थाओं के मिश्रण से पाँच संधियाँ बनती हैं। विभाजनोपजीवी शास्त्रकार यहीं तक नहीं रुके। उन्होंने चौंसठ संध्यंगों और इक्कीस संध्यंतरों की कल्पना की। लेकिन स्वयं संस्कृत के नाटककारों ने इन बंधनों में बँधना स्वीकार नहीं किया। किसी एक नाटक में इन प्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियों को न प्राप्त करने के कारण भिन्न-भिन्न नाटकों से भिन्न-भिन्न उदाहरण ढूँढ़ निकाले गये। इस सम्बन्ध में उपलब्ध सारे के सारे शास्त्रीय उदाहरण ले-दे कर 'रत्नावली' और 'वेणीसंहार' के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते हैं। भट्टनारायण ने 'वेणीसंहार' में शास्त्रीय वस्तु-विन्यास को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु सिद्धांतों की ठूस-ठाँस नाटकीय वस्तु-योजना को बहुत कुछ विशृंखल बना देती

है। ध्वन्यालोक-कार ने अपनी स्वतंत्र विचारधारा के अनुसार रस की अपेक्षा के लिए ही संधि-संध्यंगों की योजना का उल्लेख किया है[१]। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई श्रेष्ठ नाटककार इन बंधनों का स्वीकार नहीं कर सका। जब संस्कृत के नाटक इस साँचे में अपने को नहीं ढाल सके तब हिन्दी-नाटकों पर इसका आरोप जबर-दस्ती नहीं, तो और क्या है?

नाटकीय वस्तु-योजना में यवनानी अन्विति-त्रयी को खोजना कम भ्रामक नहीं है। जिस तरह अर्थ-प्रकृतियाँ, अवस्थाएँ और संधियाँ शास्त्रानुमोदित रूप में संस्कृत नाटकों में एक स्थान पर नहीं मिल पातीं उसी तरह यवनानी नाटकों में अन्विति-त्रयी का नियमानुसार समावेश नहीं हो सका है। मोल्टन ने इसके संबंध में लिखा है कि तीन प्रसिद्ध अन्वितियों के सिद्धांत ही नहीं बल्कि उनका खंडन भी काफी घिस गया है[२]। सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी में यूरोप में जब राज-तंत्र का ज़ोर बढ़ा तब नाटकों की अन्विति-त्रयी पर पर्याप्त ज़ोर दिया जाने लगा। फिर तो इसका आतंक ऐसा बढ़ा कि वोल्टेयर तक, जो रूढ़ियों और जर्जर परंपराओं का कट्टर विरोधी था, आभिजात सौंदर्यशास्त्रीय रूढ़ियों (Aesthetic conventions) का बराबर समर्थन करता रहा। उसकी दृष्टि में शेक्सपियर में एक विशेष नाट-कीय प्रतिभा थी, लेकिन शिल्प-विधान के विचार से वह केवल

---

१. सन्धि सन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया। न तु केवलया शास्त्र-स्थिति संपादनेच्छया॥

—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, का० १२

२. "As to the famous 'three unities', not only the principles themselves but even refutation of them has now pecome obsolete."

—Shakespeare: A Dramatic Artist, पृ. १४

गँवार था। पर यूरोप की रोमैंटिक साहित्य-धारा में बहुत-सी पर-पराभुक्त साहित्यिक रूढ़ियाँ (conventions) अपने आप बह गयीं। भारतीय साहित्य-शास्त्र की रूढ़िबद्धता के मूल में भी अनेक प्रकार के सामाजिक प्रभाव क्रियाशील रहे हैं। एक समय की इन रूढ़ियों के आधार पर प्रसाद के रोमैंटिक नाटकों का आकलन करना अपने आप में एक असंगति है।

किसी प्रकार की रूढ़िबद्ध शास्त्रीय यांत्रिकता को आलोचना-त्मक मान स्वीकार कर लेने पर आलोचक अपने पांडित्य को अच्छी तरह उभार देता है, लेकिन वह रचनागत वैशिष्ट्य की गहराई में नहीं पैठ पाता। इसलिए एकेडेमिक आलोचना के खूँटे में न बँध कर यदि आलोचक स्वतंत्र विचारणा से काम लेता है, तो बहुत-कुछ अपने चिंतन को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

वस्तु-योजना नाटक का बाह्य ढाँचा अथवा यांत्रिक विधान नहीं है। यह नाटक की संपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का अविच्छेद्य अंग है। इसके द्वारा नाटक की सारी घटनाओं, क्रिया-व्यापारो, नाटकीय स्थितियो (Dramatic situations) को इस प्रकार नियोजित करना पड़ता है कि उसकी प्रभावान्विति में किसी प्रकार का विक्षेप न पड़े। नाटक के चरित्रों का वस्तु-विन्यास से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। एक ओर जहाँ पात्रो के क्रियात्मक प्रतिघात से कथावस्तु गति-शील होती है, वहाँ दूसरी ओर वस्तु-जन्य स्थितियों (situations) से पात्रों का चरित्र निर्मित होता है। यदि इन तथ्यों को ध्यान में रख कर वस्तु को ठीक ढंग से नियोजित नहीं किया जाएगा, तो नाटक बहुत कुछ शिथिल और बिखरा-बिखरा दीख पड़ेगा।

वस्तु-योजना की दृष्टि से नाटककार को कथानक-योजना, व्यापारान्विति और गतिशीलता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। नाटक में प्रासंगिक कथावस्तुओं की नियोजना इस तरह होनी चाहिए कि वे आधिकारिक कथावस्तु के अनिवार्य अंग बन कर उसे गति

प्रदान करें। आधिकारिक कथावस्तु अंगी है और अन्य कथाएं अंग। इस अंगांगि भाव से वक्र गति से चलते हुए कथानक को एक लय मिल जाती है। जिन नाटकों में केवल इकहरी कथा होती है उसकी ऋजुता में भी एक संगीतात्मक उतार-चढ़ाव दिखाई देता है। व्यापारान्विति में घटना, दृश्य और क्रिया तीनों का समावेश होता है। बेमेल घटनाओं, जल्दी-जल्दी परिवर्तित होने वाले दृश्यों और असंबद्ध क्रिया-व्यापारों की अवतारणा नाटकीय शिल्प और विषय-वस्तु को असंतुलित बना देती है। रंगमंच पर इनके सार-सँभाल का कार्य और भी जटिल हो जाता है। एक घटना से दूसरी घटना का आविर्भाव, या उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संबंध-स्थापन, क्रिया-क्रिया की एकसूत्रता, घटना और क्रिया के बीच कार्य-कारण का प्रकृत लगाव, नाटक की प्रभावान्विति में सघनता और पूर्णता ले आते हैं। नाटक का प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक अंक अलग-अलग गतिशील होता है, और समग्र रूप से नाटक की गति का अविच्छेद्य अंग होता है। एक लहर है तो दूसरा उसका कंपन; एक वीणाजन्य रागिनी है, दूसरा उसकी झंकृति; एक संगीत की कोमल तान है तो दूसरा स्वर लहरी; एक बरसात की झड़ी है तो दूसरा उसकी लघु बूँद। अनावश्यक दृश्यों की योजना नाटक की गति अवरुद्ध कर देती है। इसलिए दृश्य-संकलन में नाटककार को संग्रह और त्याग का विशेष ख्याल करना चाहिए। वस्तुतः क्या दृश्य, क्या अंक, क्या घटना, क्या कार्य, सभी घात-प्रतिघात द्वारा नाटक को गति प्रदान करते हैं। भाग्य-विडंबना, आश्चर्य-तत्त्व, मोड़बिंदु आदि के उपयोग से भी नाटक को गतिशील बनाया जाता है। आगे हम इन्हीं तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए प्रसाद के प्रमुख नाटकों की वस्तु-योजना पर विचार करेंगे।

'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रसाद का एकमात्र पौराणिक उपन्यास है। इसका फलक काफ़ी विस्तृत है। सम्पूर्ण विस्तृति को रंगमंच

पर उतार लेने की आकांक्षा नाटकीय वस्तु-योजना को त्रुटिपूर्ण बना देती है। जातीय संघर्ष का विस्तार उपन्यास की निर्बन्ध सीमा के अधिक उपयुक्त है। इस नाटक की प्रासंगिक कथा—नागों की कथा—पारस्परिक बातचीत और गुप्त षड्यन्त्रों के रूप में द्वितीय अंक के कई दृश्यों तक फैली हुई है, किन्तु जनमेजय की ओर से नागों के विरोध का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिल पाता। इससे कथा-वस्तु में अंगांगि भाव नहीं आ सका है। फिर नागों के प्रतिरोध का श्रेय जनमेजय को उतना नहीं है, जितना उत्तंक के प्रतिशोधात्मक संवेगों को। इससे नाटकीय गति में आरोह-अवरोह की स्वाभाविकता कम हो गयी है। दामिनी और उत्तंक की कथा मुख्य कथा-वस्तु को आगे बढ़ाती है। किन्तु दामिनी को बहुत दूर तक घसीटने से किसी नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। इस नाटक की अधिकांश घटनाएँ और क्रिया-व्यापार किसी प्रमुख व्यापार की ओर उन्मुख नहीं दिखाई पड़ते। सरमा का नागकुल से चले जाना, पुनः जनमेजय के यहाँ अपमानित होना, दामिनी का उत्तंक पर मोहित होना, आदि घटनाओं का किसी केन्द्रीय व्यापार से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। न तो इनसे अपेक्षित नाटकीय क्रियाएँ ही प्रादुर्भूत हुई हैं। अतः नाटकीय गतिशीलता में ये रोड़े का काम करती हैं। सरमा जातीय निरादर और अपमान का घूँट पी कर भी मानसिक संतुलन कभी भी नहीं खो पाती। इस तरह नाटककार एक महत्त्वपूर्ण नाटकीय स्थिति (Situation) का सदुपयोग नहीं कर पाता है। मणिकुंडल प्राप्त करने के लिए उत्तंक की हत्या करने की तक्षक की चेष्टा का परिणाम नागयज्ञ है। इस घटना का इस नाटक में सबसे अधिक नाटकीय महत्व है, लेकिन अन्य घटनाएँ इससे अच्छी तरह बँध नहीं पायी हैं। इस घटना को सर्वाधिक महत्व प्राप्त होने के कारण ब्रह्महत्या की घटना अपने में जड़ हो गयी है। इस घटना से मनसा के मानसिक उद्वेलन का सम्बन्ध स्थापित न करना नाटकीय

स्थिति (Situation) की उपेक्षा का सूचक है। तपोवन के अनेक दृश्य, व्यास-जनमेजय की वार्ता आदि के अनावश्यक जोड़ कथा को बहुत-कुछ पंगु बना देते हैं। अंत में व्यास की अवतारणा द्वारा नाटक की जो परिसमाप्ति की गयी है, उससे नाटकीय 'क्लाइमेक्स' बहुत कुछ निष्प्रभ हो गया है।

'अजातशत्रु' प्रसाद का पहला महत्वाकांक्षापूर्ण ऐतिहासिक नाटक है। इसमें दूसरी तरह का (राजकीय) संघर्ष है। यह संघर्ष जातीय-संघर्ष की भाँति व्यापक नहीं है। अतः यह अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय विषय बन सका है। किन्तु इसकी कथा-वस्तु भी अपेक्षित ढंग से गुंफित नहीं हो पायी है। बिंबसार के पारिवारिक कलह की कहानी आधिकारिक कथा-वस्तु है। इसका केन्द्र मगध है। अन्य दो प्रासंगिक कथाओं—प्रसेनजित और उदयन से संबद्ध—के केन्द्र क्रमशः कोशल और कौशांबी हैं। मगध और कोशल के कथानक एक दूसरे से कई दृष्टियों से सम्बद्ध हैं। दोनों राज-परिवारों में वैवाहिक सम्बन्ध होने के कारण मगध की घटना से कोशल का प्रभावित होना स्वाभाविक है। मगध की घटना को आगे बढ़ाने में कोशल की कथा का पूरा योग मिला है, लेकिन प्रासंगिक कथा-वस्तु आधिकारिक कथा-वस्तु पर इस तरह हावी हो गयी है कि प्रासंगिक कथा-वस्तु आधिकारिक कथा को अपदस्थ-सी कर देती है। शैलेन्द्र की प्रणयलीला को इतना तूल न दे कर यदि अजात-शत्रु को उचित महत्व दिया गया होता तो यह त्रुटि न आ पाती। उदयन और मागंधी सम्बन्धी कथा से नाटक की रोचकता तो बढ़ गयी है, लेकिन मुख्य कथा को किसी भी अर्थ में यह आगे नहीं बढ़ाती। ऐसी स्थिति में इस कथा की व्यर्थता स्वयंसिद्ध है। गौतम और आम्रपाली की ऐतिहासिक घटना को सम्मिलित करने का लोभ नाटकीय वस्तु-योजना के लिए घातक सिद्ध हुआ है।

इस नाटक में मागंधी और शैलेन्द्र का रोमांस प्रमुख व्यापार

से एकदम अलग है। इससे नाटक की गतिशीलता में भारी अवरोध आ गया है। वाजिरा के प्रति कारायण की प्रेम-भावना भी अशक्त और क्रिया-हीन है। कोशल की कथा को मल्लिका गतिशील बनाती है और मगध की कथा को देवदत्त। विरोधी पात्रों की सर्जना द्वारा नाटक में गत्यात्मक वक्रता आती है। मल्लिका के गरिमामय महान् व्यक्तित्व से टकरा कर बंधुल, दीर्घकारायण और कोशल के राजकुमार को जो मार्ग मिलता है उससे नाटक तेजी से परिसमाप्ति की ओर बढ़ता है। लेकिन मल्लिका के चरित्र पर अत्यधिक ध्यान केन्द्रित करने के कारण नाटककार अपनी मूल योजना से बहुत दूर जा पड़ा है।

अपनी कतिपय त्रुटियों के बावजूद भी 'स्कन्दगुप्त' का वस्तु-विन्यास अन्य बड़े नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक संघटित और सुसंबद्ध है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं को इस प्रकार समन्वित किया गया है कि न तो वे बिखर सकी हैं और न कोई कथा किसी पर हावी हो पायी है। मालवा से संबद्ध कथा प्रमुख-कथा का अविच्छेद्य अंग हो गयी है और प्रमुख कथा को आगे बढ़ाने में पूरा पूरा योग देती है। इस कथा में ही ऐसे उपकरणों की योजना की गयी है, जो स्कन्दगुप्त के वैयक्तिक जीवन की बड़ी ही मनोरम झाँकी प्रस्तुत करते हैं। शेक्सपीयर के कतिपय नाटकों में वैयक्तिक क्रिया-व्यापार व्यापक सामाजिक महत्त्व के कार्यों की सृष्टि करते हैं। इसे आलोचकों ने Enveloping action कहा है। यहाँ पर राष्ट्रीय कार्यों को प्रमुखता दी गयी है और उस सिलसिले में वैयक्तिक जीवन के विभिन्न पक्षों को भी अच्छी तरह उभार दिया गया है। इस नाटक में ऐतिहासिक तथ्यों और मानवीय संवेदनाओं का जो नीर-क्षीर मिश्रण हुआ है, उससे सामाजिकों का सवेगात्मक अनुकूलत्व (Emotional responsive) सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

'स्कन्दगुप्त' की अधिकांश घटना-शृंखलाएँ प्रमुख व्यापार से इस

प्रकार संबद्ध हैं कि केन्द्रीय कार्य से उनका साध्य और साधन का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कुसुमपुर में चलने वाले समस्त षड्यन्त्र स्कन्दगुप्त के राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन में अनेक प्रकार के आरोह और अवरोह ले आते हैं। स्कन्द और विजया का प्रथम साक्षात्कार भी एक ऐसी घटना है, जिससे अन्य बहुत-सी घटनाएँ और क्रियाएँ प्रादुर्भूत होती हैं। 'स्कन्दगुप्त' का नाटकीय वस्तु-विन्यास विजया और देवसेना के वैयक्तिक चरित्र से इस तरह अनुशासित है (यद्यपि यह अनुशासन थोड़ा-बहुत शिथिल हो गया है) कि उससे राष्ट्रीय महत्व के कार्यों पर भी प्रभाव पड़ता है।

इस नाटक में पूर्वा-पर सम्बन्ध भी काफी गठा हुआ है। प्रथम अंक में जिन घटनाओं और क्रियाओं का उल्लेख किया गया है वे परवर्ती घटनाओं और क्रियाओं से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। मातृ-गुप्त का प्रसंग, सिंहल के युवराज का प्रवेश, मुद्गल की चारित्रिक कल्पना, चतुष्पथ के पास ब्राह्मणों और बौद्धों का वाक्युद्ध नाटक की गति में विक्षेप डालते हैं। लेकिन इस तरह के अनावश्यक स्थल इस नाटक में अपेक्षाकृत कम हैं। अतिप्राकृत (Supernatural) तत्वों के आधार पर इसमें जिस रहस्यमयता की सृष्टि की गयी है, वह तत्कालीन धार्मिक विश्वासों और ऐतिह्य के सर्वथा अनुकूल है। नाटक को गति प्रदान करने में भी इन तत्वों का उपयोग किया गया है। नाटकीय गति के लिए जिस आकस्मिकता का सन्निवेश इस नाटक में किया गया है, वह आज के यथार्थवादियों की दृष्टि में बहुत औचित्यपूर्ण नहीं मानी जाती। लेकिन इसके द्वारा नाटकीय प्रवाह में गत्यात्मक मोड़ ले आने में लेखक की कुशलता सराहनीय है। देवकी की हत्या के अवसर पर स्कन्दगुप्त की आकस्मिक उपस्थिति भटार्क के षड्यंत्र को विफल बनाती है और इस घटना के आघात से नाटक में नयी स्थितियाँ और नये मोड़ आते हैं। दो विरोधी मनो-वृत्तियों वाले पात्रों की टकराहट से नाटक को जो गतिशीलता मिली

है, उसमें गहरी मनोवैज्ञानिकता भी दिखाई पड़ती है। कथावस्तु को गत्यात्मक बनाने वाले गहन अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि जितनी सफलता से इस नाटक में की गयी है, उतनी इनके अन्य नाटकों में नहीं दिखाई पड़ेगी। विजया का अन्तर्द्वन्द्व केवल मानसिक स्तर तक ही सीमित न रह कर विविध प्रकार की व्यवहारिक क्रियाओं तक फैल जाता है। उसका व्यवहार स्कन्दगुप्त को आश्चर्यचकित और भटार्क को भयंकर प्रतिशोधी बना देता है। नाटकीय गति की दृष्टि से विजया की अवतारणा देवसेना से अच्छी बन पड़ी है। कुभा की घटना इस नाटक में परिवर्तन-बिंदु उपस्थित करती है और नाटक दुःखान्त पर्यवसान की ओर शीघ्रतापूर्वक मुड़ जाता है। बाद में उसे सुखान्त बनाने के प्रयास में भारतीयता का आग्रह ही समझना चाहिए।

अपने कथानक के विस्तार-भार से बोझिल 'चन्द्रगुप्त' सुसंबद्ध नहीं हो पाया है। प्रसाद के नाटकों में, कुछ लोगों के विचार से, यह सर्वोत्तम नाटक है; लेकिन आवयविक अन्विति (organic unity) की दृष्टि से यह अत्यधिक बिखर गया है। गांधार तथा उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश में घटने वाली घटनाएँ—आंभीक का षड्यन्त्र, सिकन्दर का आक्रमण, पर्वतेश्वर का विरोध, मालवों और क्षुद्रकों की पराक्रमपूर्ण वीरता आदि एक इकाई के अन्तर्गत आती हैं। मगध के नंदवंश के उन्मूलन की कहानी से प्रथम कहानी प्रायः असंबद्ध है। अलग-अलग इन दो स्थानों के परिव्याप्त संघर्षों को किसी एक केंद्रीय संघर्ष में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सका है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस', डी० एल० राय के 'चन्द्रगुप्त' में सिकन्दर के आक्रमण की कथा गृहीत नहीं हुई है। अत: उन नाटकों के वस्तु-विन्यास में विशृङ्खलता नहीं आयी है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक 'वितस्ता की लहरें' में सिकन्दर के आक्रमण की कथा ग्रहण की है और मगध की कथा छोड़ दी है। इसके फलस्वरूप उनकी वस्तु-योजना में विक्षेप नहीं पड़ने पाया है। प्रसाद ने मगध और गांधार

में चलने वाली कथाओं का चाणक्य और चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्वों द्वारा एकसूत्रता प्रदान करने की चेष्टा की है, किन्तु यह एकसूत्रता जीवनी-परक उपन्यासों की विशेषता है, नाटकों की नहीं। 'शेखर : एक जीवनी' की घटनाएँ शेखर के व्यक्तित्व से बँधी रहने के कारण ही औपन्यासिक मानी जाती हैं। फिर भी कुछ आलोचक घटनाओं की पारस्परिक-असंबद्धता देख कर इसकी औपन्यासिकता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा देते हैं।

इतने विशाल नाटक की घटनाओं और क्रिया-व्यापारों की अन्विति न मिलने से स्थान स्थान पर नाटकीय गति में भारी अवरोध उत्पन्न हो जाता है। प्रथम अंक की व्यापक घटनाएँ और क्रियाएँ द्वितीय अंक के व्यापारों से पूर्णतया संबद्ध नहीं की जा सकी हैं। दूसरे अंक के बाद एक कथा समाप्त हो जाती है, तीसरा अंक दूसरे अंक से जिस तंतु से जुड़ा हुआ है वह अत्यंत दुर्बल है। दूसरे अंक के विदेशी आक्रमण की कोई नाटकीय प्रतिक्रिया तीसरे अंक पर नहीं हो पाती। तीसरा अंक अपने आप में गतिशील और पूर्ण है, किन्तु जहाँ तक चौथे अंक से सम्बन्ध की बात है, वह गतिशून्य और जड़ हो गया है। तीसरे अंक में दूसरी स्वतंत्र कथा पुनः समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में चौथा अंक अनपेक्षित और व्यर्थ प्रतीत होता है। 'स्कन्दगुप्त' में व्यक्तिगत प्रेम-व्यापारों को सामाजिक महत्व के कार्यों से जोड़कर नाटक में जो रसात्मक प्रगाढ़ता, अन्विति और गत्यात्मकता ले आयी गयी है, वह 'चन्द्रगुप्त' में नहीं दिखाई पड़ती। अलका का देश-सेविका का रूप इतना अधिक उभार दिया गया है कि उसकी नारीजनोचित सरसता बहुत कुछ कृत्रिम हो गयी है। कार्नेलिया की सृष्टि एक ऐतिहासिक माँग की पूर्ति करती है, किन्तु नाटकीय गति की दृष्टि से उसका विशेष महत्व नहीं आँका जा सकता। मालविका का मूक बलिदान और कल्याणी की निरीह आत्म-आहुति के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ वही बात कही जा सकती है। यद्यपि चाणक्य और

सुवासिनी की प्रेमासक्ति बहुत कुछ औपचारिक प्रतीत होती है, फिर भी नाटकीय वस्तु-योजना और चरित्र-निर्माण की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' में आकस्मिकता का बाहुल्य नाटकीय दृष्टि से बहुत श्लाघ्य नहीं ठहराया जा सकता।

वस्तु-विन्यास की दृष्टि से प्रसाद की अन्तिम नाट्य-रचना 'ध्रुव-स्वामिनी' काफ़ी अच्छी बन पड़ी है। 'ध्रुवस्वामिनी' के तीनों अंक अपने में पूर्ण और गतिशील तो हैं ही, एक दूसरे से कारण और कार्य के रूप में भी संबद्ध हैं। प्रथम अंक की प्रतिक्रिया के रूप में द्वितीय अंक और द्वितीय अंक की प्रतिक्रिया के रूप में तृतीय अक की योजना नाटक को समग्रतः गतिपूर्ण बना देती है। 'ध्रुवस्वामिनी' का शकराज द्वारा माँगा जाना, रामगुप्त के साथ उसका शक-शिविर में जाना, सिंहासनारोहण के लिए परिषद् की मंत्रणा ऐसी घटनाएँ हैं, जो अनेक क्रिया-व्यापारों से सहज रूप से संबद्ध हैं। जहाँ प्रसाद के अन्य नाटकों मे उनके गीत नाटकीय वस्तु-स्थिति से थोड़ा-बहुत निःसंग होने के कारण वस्तु-योजना में अधिक सहायता नहीं पहुँचाते, वहाँ 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा का प्रसग वस्तु-विन्यास में क्या योग देता है, यह विचारणीय है। कोमा की कहानी नारी-समस्या को बल देती है, शकराज के चरित्र पर प्रकाश डालती है, प्रेम की वेदी पर बलि चढ़ कर एक अवसादपूर्ण वातावरण की सृष्टि करती है, किन्तु वह वस्तु-विन्यास का अनिवार्य अंग नहीं बन पायी है। फिर भी इस नाटक का वस्तु-विन्यास इतना गठा हुआ है कि नाटकीय प्रभावान्विति में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

प्रसाद के नाटकों की वस्तु-विन्यास-संबंधी जिन त्रुटियों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनसे नाटकीय ढाँचे में शिथिलता और विशृङ्खलता दिखाई पड़ती है, लेकिन इनके आधार पर उनकी महत्ता का आकलन नहीं किया जा सकता। शेक्सपीयर के नाटको की वस्तु-योजना-परक त्रुटियों का कम उल्लेख नहीं हुआ है। फिर भी उसकी

ऊँचाई तक अन्य नाटककारो की रचनाएँ नहीं पहुँच पायीं। प्रसाद के कुछ परवर्ती नाटकाओं में वस्तु-विन्यास-संबंधी त्रुटियाँ नहीं दिखाई पड़तीं लेकिन फिर भी वे प्रसाद के समकक्ष नहीं रखे जाते। प्रसाद की सहज गंभीरता से अभिमंडित नाटकीय परिवेश, अपूर्व राष्ट्रीय-चेतना का सन्निवेश तथा गुण-दोष-समन्वित आरोह-अवरोहपूर्ण मांसल चरित्र-निर्माण उनके नाटकों को आज भी अप्रतिम बनाए हुए हैं। यदि उनके नाटकों में वस्तु-विन्यास-संबंधी त्रुटियाँ न होतीं तो निश्चय ही उनके नाटको का और भी गौरवपूर्ण स्थान होता।

चरित्र-चत्रिण

प्रसाद आधुनिक साहित्य के अप्रतिम सर्जनात्मक प्रतिभा थे। इनकी सर्जना का उत्कृष्टतम रूप चरित्रगत विशेषताओं के उद्घाटन में दिखाई पड़ता है। अभी तक हिन्दी-नाटकों के चरित्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं मिल पाया था, वे नाटककारों के व्यक्तित्वो से चिपटे रह गए थे। प्रसाद ने पहली बार उन्हें व्यक्तित्व प्रदान किया। उन्होंने अपने पात्रो को अधिक से अधिक सहानुभूति दी और उनके अन्तर्द्वन्द्वों और बाह्य संघर्षों को अत्यन्त मार्मिक ढंग से चित्रित किया। कहीं पर इनके चित्रों की रेखाएँ खूब पुष्ट और उभरी हुई हैं जो पात्रों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भंगिमाओं को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं और कहीं रेखाओं के हल्के स्पर्शों से पात्रो की सम्पूर्ण भावुकता को कुशलतापूर्वक अंकित किया गया है।

इनके नाटको के पात्रो को धीरोदात्त या धीरोद्धत्त के बँधे बँधाए स्थूल मापों से नहीं नापा जा सकता और न मानव, दानव आदि के कटघरे में ही डाला जा सकता है। ऊपर-ऊपर से एक विशेष ढंग के दिखाई देने पर भी वे परम्परायुक्त मान्यताओं और नाटकीय सिद्धान्तों का अतिक्रमण कर जाते हैं। अतः उनका उचित स्थान निर्धारित करने के लिए उनकी विविध परिस्थितियों तथा उनके प्रति

उनकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं की जाँच करनी पड़ेगी। उनके नाटकीय पात्रों की सामान्य विशेषताओं को देखते हुए सुविधा की दृष्टि से उन्हें कतिपय श्रेणियों में रखा जा सकता है—(१) महत्वाकांक्षी पात्र (२) राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने वाले स्त्री-पुरुष (३) कूट के आचार्य (४) भारतीय आध्यात्मिकता के प्रतीक महात्मा और ऋषि (५) भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली करुण-तितिक्षा की जीवंत मूर्ति नारियाँ (६) अनेक गुण समन्वित अपनी परिस्थितियों में टूटने और निर्मित होने वाली स्त्रियाँ और (७) संगीत की अंतिम लहरदार तान छोड़ जाने वाले गीतिमय नारी पात्र।

महत्त्वाकांक्षी पात्र

'राज्य श्री' का विकटघोष, 'अजातशत्रु' के कुणीक (अजातशत्रु) और विरुद्धक; स्कन्दगुप्त का भटार्क—सभी महत्वाकांक्षी पात्र हैं। ये सभी जीवन में ऐश्वर्य, वैभव, शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं। इनके लिए वे समस्त सम्बन्धों, उपकारों और नैतिक मानों की अवहेलना करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। महत्वाकांक्षा इनके जीवन का साध्य है, इसे प्राप्त करने के लिए वे किसी भी साधन का उपयोग कर सकते हैं। ये मनोवैज्ञानिक अर्थ में अहंवादी (egoist) नहीं हैं। महत्वाकांक्षा की मृगतृष्णा उन्हें एक के बाद दूसरे षड्यन्त्रों और साहसपूर्ण कार्यों में संलग्न रखती है।

उपर्युक्त पात्रों को महत्वाकांक्षा-युक्त बनाने का बहुत कुछ दायित्व उनकी वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियों पर भी है। बुद्धि और अवस्था की अपरिपक्वावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण करने के कारण शांतिदेव (विकट घोष) अपनी ऐहिक कामनाओं से विरक्त नहीं हो सका था। उस पर बलात् लादी गई प्रव्रज्या उसे कुछ ही दिनों में असह्य हो गई। अपनी उपेक्षा करने वाले ससार की उपेक्षा

करने का दृढ़ निश्चय उसे डाकू बना देता है। अजातशत्रु को इस भयानक दिशा में ले जाने का श्रेय उसकी माता छलना को है। विरुद्धक से उसकी माँ ने कहा था—'महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए काल स्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी'। प्रसेनजित् का शक्तिमती को दासीपुत्री कह कर अपमानित करना विरुद्धक में एक क्रूर प्रतिशोध भर देता है। माता का आह्वान सुनकर वह अधिक देर तक कोशल में नहीं रुक सका। सम्राट से समस्त भटार्क के ऊपर जो व्यंग्य बाण बरसाए गए उन्हीं से प्रतिहिंसा की कृत्या उत्पन्न हुई। अनंतदेवी और विजया के संपर्क ने उसकी महत्वाकांक्षा की अग्नि में आहुति का कार्य किया।

इन महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों में सामान्य समता होने पर भी इनके लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। शांति देव (विकटघोष) रूप और वैभव की चकाचौंध में आत्मविस्मृत होकर अपनी अकिंचनता के प्रति विद्रोही बन बैठता है। राज्यश्री की रूपासक्ति उसमें क्रूरतापूर्ण साहसिकता भर देती है। उसके रूप की भंयकर लपटों में जलता हुआ विकटघोष अनेक भयानक कार्य करता हुआ दिखाई पड़ता है। रूप की मदिरा से विवेक भ्रष्ट डाकू के रूप में जघन्य से जघन्य कार्य करने में उसे विषाद के स्थान पर हर्ष का अनुभव होता है। धर्म और शांति के नाम पर वह कहता है—'मूर्ख शांति को मैंने देखा है, कितने शवों में वह दिखाई पड़ी। शांति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख माँगने में।...धर्म को मैंने खोजा—जीर्ण पत्रों में, पंडितों के कूट तर्क मे, उसे बिलखते पाया। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।' उद्दाम काम-वासना मनुष्य के जीवन को कितना उलट-पलट सकती है, विकटघोष इसका जीवित उदाहरण है। उन्नयन के अभाव में अनियंत्रित और अनवरुद्ध गति से वह अपनी दिशा में दौड़ता

चला जाता है। मानवीय विकास के सरलतम सिद्धान्तों के अनुसार एक सीमा पर साधन स्वयं साध्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में विकट-घोप को हत्याओं में, रक्तपात में, एक अद्भुत आनन्द आने लगता है।

अजातशत्रु

प्रतिष्ठा, पद, राज्य-मर्यादा के प्रति तीव्र आकांक्षा अजातशत्रु को महत्त्वाकांक्षी बनाती है लेकिन अपनी आंतरिक दुर्बलताओं के कारण वह पूर्ण रूप से इस श्रेणी में नहीं आ पाता। वास्तव में छलना अपनी महत्त्वाकांक्षा को और देवदत्त अपनी ईर्ष्या जन्य भावना को अजातशत्रु के माध्यम से प्रतिफलित देखना चाहते हैं। इनकी गहन छायाओं में उसका व्यक्तित्व पनप नहीं सका है। अजातशत्रु के ऊपर उद्दण्डता और औद्धत्य का जो संस्कार पड़ा है उसे छलना और देवदत्त और भी पुष्ट बनाते हैं। लुब्धक की चमड़ी उधेड़ने की उसकी बाल-मनोवृत्ति बाद में पुष्ट होकर प्रजा के प्रति अपरूप उद्‌गार प्रकट करने के लिए उसे विवश करती है। काशी के विद्रोह का समाचार सुनकर वह कह उठता है—'प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है। चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। राजकर मैं न दूँगा। यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ वह क्यों न निकाल ली गई।...'

उसका आदर्श-शून्य आत्म-केंद्रित जीवन अपने ममत्व को अपनी मा और अपने निःशक्त सहयोगियों तक ही सीमित रखता है। बहन पद्मावती की अवमानना, पिता बिंबसार और सौतेली माँ वासवी का अकारण तिरस्कार महात्मा गौतम के प्रति अशिष्टता उसके अनुचित संस्कार और त्रुटिपूर्ण शिक्षण के परिणाम हैं। मल्लिका के व्यक्तित्व से टकराकर वह दुधर्ष और क्रोधांध सर्प सहसा शांत हो जाता है। फिर छलना के उकसा देने से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। सशक्त व्यक्तित्वों से टकराता हुआ उसका दुर्बल व्यक्ति गेंद की तरह

उधर से इधर और इधर से उधर टकराता फिरता है। इस तरह स्वतंत्र विचारणा से शून्य और व्यक्तित्व की रिक्तता से पूर्ण अजात-शत्रु नायकत्व की प्रतिष्ठा नहीं कर पाता।

विरुद्धक

शांतिभिक्षु की भाँति विरुद्धक सच्चे अर्थ में महत्वाकांक्षी है, नए अजातशत्रु की भाँति परावलंबी, आत्म-केंद्रित अहंवादी (egoist) नहीं है। वह भयानक साहसी, आत्मनिर्भर और अपने भाग्य का अपने आप नियामक है। विरुद्धक शांतिभिक्षु और अजातशत्रु से कई अर्थों में समान है। शांतिभिक्षु को रूप और वैभव के लिए विकट-घोष डाकू बनना पड़ा तो विरुद्धक को बहुत कुछ उसी कार्य के लिए शैलेन्द्र डाकू की भूमिका में उतरना पड़ा। एक संसार से उपेक्षित है तो दूसरा पिता से तिरस्कृत। प्रतिशोध की भावना से दोनों ओत-प्रोत हैं। राज्यश्री के रूप की पिपासा शांतिभिक्षु के सांसारिक जीवन में न बुझ सकी और न विरुद्धक मल्लिका के रूप-लावण्य को भूल सका। अजातशत्रु की माता छलना और विरुद्धक की माता शक्ति-मती अपने अपने पुत्रों को महत्वाकांक्षी बनाती हैं। दोनों अपने पिता के विरुद्ध हैं। समानधर्मी होने के कारण युद्ध-क्षेत्र में दोनों की संधि हो जाती है।

इन समस्त समानताओं के होते हुए भी विरुद्धक न तो शांतिभिक्षु है और न अजातशत्रु। शांतिभिक्षु की भाँति सच्चे अर्थ में महत्वा-कांक्षी और विकट साहसी होते हुए भी उसके उद्देश्य और कार्य-पद्धति भिन्न हैं। शांतिभिक्षु की अकिंचनता उसमें जिस भयंकर अंधड़ और अविवेक की सृष्टि करती है, वह विरुद्धक में उतनी मात्रा में नहीं दिखाई पड़ती। अजातशत्रु की भाँति वह व्यक्तित्व शून्य, परावलंबी और खोखले अहंकार से पूर्ण नहीं है। उसमें अदम्य साहस, सुदृढ़ आत्मनिर्भरता और अडिग संकल्प-शक्ति है। अजात-

शत्रु और विरुद्धक की परिस्थितियों में भी अंतर है। अजातशत्रु अपने पिता से सरलतापूर्वक सिंहासन प्राप्त कर लेता है और फिर समस्त राजकीय शक्तियों का उपयोग अपनी माता की महत्वकांक्षा की पूर्ति और अपने अहं की तुष्टि में करता है। किंतु प्रसेनजित् दूसरी धातु का बना है। वह विरुद्धक को लांछित, अपमानित और निर्वासित करता है। विषम परिस्थितियाँ विरुद्धक को कमठ और उद्योगशील बनाती हैं। वह किसी अन्य व्यक्ति का मुखापेक्षी न होकर अपने बाहुबल से स्वत्व प्राप्त करना चाहता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह कोशल के सेनापति बंधुल को अपनी ओर मिलाना चाहता है, किंतु कृतकार्य नहीं होता। फिर अजातशत्रु को अपना मोहरा बनाकर वह अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। अजातशत्रु की दुर्बलता और आत्मकेंद्रित प्रवृत्ति उसे विरुद्धक के जाल में फँसा देती है।

श्यामा और विरुद्धक की प्रणय-लीला नाटक की गतिशीलता भले ही अवरुद्ध करती हो, लेकिन विरुद्धक के चारित्रिक उद्घाटन में सहायता ही पहुँचाती है। श्यामा के सौन्दर्य की ऊष्मा ने विरुद्धक को बहुत से हिंस्र कार्यों से विरत कर दिया, विरुद्धक के साहसिक कार्यों के बीच यह अस्थायी शांति का समय दिखाई पड़ता है। उसे श्यामा का ऐकांतिक प्रणय, मादकता पूर्ण यौवन, अक्षय विश्वास प्राप्त होता है। लेकिन महत्वाकांक्षा कोमल से कोमल संबंधों का तिरस्कार और आत्मीय से आत्मीय व्यक्तियों का विश्वास-मर्दन करती हुई अपने गंतव्य तक पहुँचने का प्रयास करती है। श्यामा का गला घोंटने के पूर्व शैलेन्द्र में एक क्षणिक वेदना प्रादुर्भूत होती है, लेकिन उसके प्रतिशोध की दावाग्नि से वह अछूती नहीं बच सकी। महत्त्वाकांक्षा का पागलपन मनुष्य से क्या नहीं करा सकता?

श्यामा की प्रणय-भावना का तिरस्कार करके भी विरुद्धक मल्लिका के प्रति अपने प्रेम-भाव को विस्मृत न कर सका। मल्लिका

ने उसे निःस्वार्थ भाव से जीवन-दान दिया लेकिन विरुद्धक उसका गलत अर्थ लगाना स्वाभाविक था। अततोगत्वा मल्लिका के तपःपूत व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्यामा को अपनाने के लिए भी सन्नद्ध होता है, लेकिन श्यामा स्वतः प्रस्तुत न हो सकी।

भटार्क

भटार्क की महत्त्वाकांक्षा पूर्वोक्त अन्य पात्रों की महत्त्वाकांक्षाओं से भिन्न स्तर की है। उसकी महत् आकांक्षा भी सारे नैतिक और अन्तर्वैयक्तिक मानों को कुचलती हुई अपने साध्य को प्राप्त करने के लिए ध्वंसात्मक साधनों का उपयोग करती है, किंतु बीच-बीच में उसका अन्तःकरण उसे रोकता-टोकता चलता है। कुछ समय के लिए वह अपने दुष्कृत्यों पर पश्चाताप करता हुआ वेदना से विकल हो उठता है। लेकिन अन्तरात्मा की पुकार के अनुकूल कार्य करने के लिए वह सन्नद्ध नहीं हो पाता। आखिर अंतःकरण की यह सात्विक प्रवृत्ति उसके जीवन को देश-हित की ओर मोड़ने में सफल होती है। विकटघोष ऐसा बर्बर और आततायी का दिवाकर मित्र के उपदेश से पुनः प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। इस प्रसंग को समाप्त करने के लिए यह अमनोवैज्ञानिक कल्पना की गई है। मल्लिका के सम्पर्क मात्र से विरुद्धक के स्वभाव का परिवर्तन भी कुछ इसी प्रकार का है। किंतु भटार्क का अपने ध्वंसोन्मुख कार्यों से विरत होकर देशोद्धार के कार्य में उल्लासपूर्वक जुट जाना उसकी आत्मभर्त्सना और आत्मग्लानि का परिणाम है।

भटार्क गुप्त-साम्राज्य का अत्यन्त पराक्रमशील और शौर्यवान सेनानी था। साम्राज्य के अन्य अधिकारियों के न चाहते हुए भी अनन्तदेवी की कृपा से उसे महाबलाधिकृत का उच्च पद मिल गया था। अनंतदेवी के प्रति कृतज्ञ होने के कारण उसके जीवन की दूसरी आकांक्षा हुई पुरगुप्त को राजाधिराज के पद पर प्रतिष्ठापित

करने की। इसके लिए उसने अनेक जघन्य कार्य किए। महाराजाधिराज कुमारादित्य की हत्या, महादेवी देवकी के वध का नीचता पूर्ण असफल षड्यन्त्र और देवसेना को श्मशान-भूमि में कापालिक के हाथ बलि चढ़ाने का खंडित प्रयास—उसी के कार्य थे। गुप्त सम्राट के सामने उस पर जो व्यंग्य-वर्षा की गई, उसने उसके हृदय में प्रतिहिंसा को जो विष-बीज बोया वह अनंतदेवी की कृतघ्नता और विजया के प्रतिशोध के खाद-पानी से निरंतर बढ़ता गया। स्कन्दगुप्त की सदाशयता और उपकार की अवहेलना करके उसने कुभा के बाँध के साथ ही गुप्त-साम्राज्य की रीढ़ भी तोड़ दी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है भटार्क का अंतःकरण उसके दुष्कर्मों की भर्त्सना बराबर करता रहा। पृथ्वीसेन और महाप्रतिहार की आत्महत्या के उपरांत वह कहता है—'परंतु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक।' स्कन्दगुप्त से उपकृत होने के अनन्तर जब प्रपंचबुद्धि के प्रपंच में पड़कर वह पुनः दुरभिसंधि में लिप्त होता है तब उसकी अन्तरात्मा बोल उठती है—'पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे जकड़कर अपने नागपाश में बाँध लेता है। दुर्भाग्य!' कुभा की विभीषिका से आत्म-विक्षुब्ध होकर अपने को धिक्कारता हुआ कहता है—'ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट! परंतु गया। मेरी ही भूल से सब गया।' अपनी मां के प्रति गहरा ममत्व रखता हुआ भी वह अपनी महत्त्वाकांक्षा के आगे उसकी आज्ञा और भर्त्सना को अनसुनी कर देता है।

छलना, शक्तिमती सुरमा अनंतदेवी और विजया

छलना और शक्तिमती नीयत से महत्त्वाकांक्षी हैं, किंतु शक्ति और योजना की कमी के कारण उनकी सीमाएँ संकुचित हो गई हैं। राज्यश्री की सुरमा अपनी महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर कभी देवगुप्त और कभी विकटघोष की वासना की पूर्ति करती रहती है। अनंत-

देवी की महत्त्वाकांक्षा 'स्कन्दगुप्त' के सारे घटनाचक्रों, षड्यन्त्रों और कथानक-विकास का केन्द्र-बिन्दु है। वह अपना कार्य सिद्ध करने के लिए परिस्थितियों के अनुकूल क्रियाशील होने में अत्यंत पटु है। कुमारगुप्त यौवन से भरी अनंतदेवी के इशारों पर नाच रहे थे। भटार्क को आगामी खड-प्रलय के लिए प्रस्तुत करना उसके बाँए हाथ का खेल था। भटार्क के लिए वह बहुत दिनों तक अनबूझ पहेली बनी रही। भटार्क उसके संबंध में कहता है—'एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है। आह कितनी साहसशीला स्त्री है! देखूँ गुप्त साम्राज्य की कुंजी यह किधर घुमाती है।' वह अच्छी तरह जानती है कि भटार्क को अपनी ओर मिलाना कितना जरूरी है। इसके लिए वह कभी अपने उपकारों का स्मरण दिलाती है और कभी प्रपञ्चबुद्धि की अतिमानवीय शक्ति से उसे आश्चर्य से अभिभूत कर देती है। स्त्रियों के दैन्य और आँसू की शक्ति का भी उसे पूरा भरोसा है। समय पड़ने पर वह इसका अवलंब भी ग्रहण करती है। विजया को अपने पद, प्रतिष्ठा और अधिकार के बल पर वह सहज में आतंकित कर देती है। भटार्क, स्कन्दगुप्त आदि की कमजोरियों का उसे पता है और उससे वह लाभ उठाती है। प्रसाद के नारी पात्रों में इतना षड्यन्त्रकारी और क्रूर कोई अन्य पात्र नहीं है। अपने वृद्ध पति कुमारादित्य के प्रति उसके मन में तनिक भी दया की भावना नहीं है, ह्रासोन्मुख गुप्त साम्राज्य के प्रति कोई ममत्व नहीं है। यहाँ तक कि पुरगुप्त उसकी महत् आकांक्षाओं का एक हथियार मात्र मालूम पड़ता है।

विजया की मनोवृत्ति, मानसिक स्थिति, दृष्टिकोण, आशा-आकांक्षा का अध्ययन उसे महत्त्वाकांक्षी सिद्ध करता है। स्कन्दगुप्त ऐसे उदासीन और कर्मठ राष्ट्रसेवी को भी आकृष्ट करने वाला रूप और यौवन उसे प्राप्त है। प्रकृति ने उसे अपार सौन्दर्य और पिता ने अतुलधन दिया है। इन दोनों का उपयोग वह अपनी महत् आकांक्षा

की सिद्धि में करना चाहती है। स्कन्दगुप्त के प्रति उसके अनुराग के मूल में स्कन्दगुप्त का युवराजत्व और उसके भावी जीवन की रंगीन कल्पना निहित है। देवसेना के सामने अनजान में वह अपने मन की आन्तरिक बात कह उठती है—'एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परतु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कह कर टाल दे सकती हूँ।' चक्रपालित की ओर आकृष्ट होने पर देवसेना उसके मन की बात ताड़ जाती है और कह देती है कि 'तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है।' भटार्क गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत के पद पर नियुक्त है और साथ ही प्रख्यात वीर भी है। विजया निस्संकोच उसका वरण कर लेती है। यद्यपि भटार्क के वरण के मूल में देवसेना के प्रति उसकी गलत धारणा की प्रतिक्रिया है तथापि स्वयं महत्त्वाकांक्षी भटार्क का व्यक्तित्व कम महत्त्व नहीं रखता। यह आत्मकेंद्रित नारी अत में देशसेवा की आड़ में स्कन्द को खरीदना चाहती है, किंतु यह आत्म-प्रवंचना स्वयं उसको समाप्त कर देती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह दुर्बल भावुकतापूर्ण (Sentimental) नारी है। यह भाव-गत दौर्बल्य (Sentimentality) उसके समस्त व्यक्तित्व का अभिन्न अग हो गया है। भटार्क के वरण तथा अत में स्कन्दगुप्त को धन से क्रय करने का दुस्साहस इसी मनोवृत्ति का फल है। लेकिन जहाँ तक अपने धन की रक्षा का प्रश्न है वह वणिक वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ पर उसका भावुकता पूर्ण दौर्बल्य कुछ भी काम नहीं कर पाता।

रूपगर्विता मागंधी की महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्ति ने उसे जो रूप दिए उन्हें उसी के मुख से सुनना अधिक अच्छा है—'वाहरी नियति! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आए—कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठाकर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर

चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ—अपनी परिस्थिति को सयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा में पड़ी—उसी का परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गए।'

मातृभूमि के उद्धारक पात्र

स्कन्दगुप्त

प्रसाद पराधीन भारत के हृदय की प्रत्येक धड़कन पहचानते थे और इसके अर्थ को ठीक ढंग से व्यक्त करने के लिए उन्होंने उत्कर्ष-मूलक ऐतिहासिक चरित्रों का सृजन किया। स्कन्दगुप्त मूलतः राष्ट्र का सैनिक और रक्षक है। उसे गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने की उतनी चिंता नहीं है, जितनी आर्य-राष्ट्र के ध्वस्त होने की। उसका सारा आयोजन, क्रिया-प्रणाली, विपुल संघर्ष उसे एक कर्मठ किंतु निस्पृह राष्ट्रीय सैनिक (नेता) सिद्ध करते हैं। महत्वाकांक्षा इसे छू तक नहीं गई है। इसके विपरीत वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन प्रतीत होता है, क्योंकि अधिकार-सुख मादक और सार हीन है। इससे व्यक्ति अपने को नियामक और कर्त्ता समझने लगता है। अधिकार-सुख की मनोवैज्ञानिक खामियों को देखकर उसके प्रति निर्लिप्त हो जाना उसकी मानसिक निर्मिति (mantal make up) की विशेषता है। गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकार का अस्थिर नियम भी उसकी इस दार्शनिक उदासीनता का एक कारण है।

लेकिन यह उदासीनता देश के प्रति उसके कठोर कर्त्तव्यों में बाधक नहीं बन पाती। बल्कि अधिकारों के व्यामोह में न पड़कर और भी तत्परता के साथ वह आर्य-राष्ट्र की रक्षा में जुट जाता है। सारे देश की आँखें इस निःस्वार्थ-कर्मी, वीर और पराक्रमी सेवक की ओर लगी रहती हैं। बंधुवर्मा स्कन्द को आर्यावर्त का एकमात्र

आशास्थल और उसी के कल्याण में आर्यराष्ट्र का त्राण मानता है। मातृगुप्त, शर्वनाग, पर्णदत्त, चक्रपालित सभी उसी की ओर आँख लगाए हुए हैं। यहाँ तक कि विदेशी धातुसेन की दृष्टि में भी वह 'आशा का केन्द्र ध्रुवतारा' है। 'स्कन्दगुप्त' मालव में मूर्धाभिषिक्त होने पर अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को व्यक्त करता हुआ कहता है—'आर्य्य! इस गुरु भार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्य राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्त्तव्य से, स्वदेश सेवा से, कभी विचलित न हो।' गुप्त साम्राज्य को भी वह हरा भरा देखना चाहता है। किंतु उसकी क्रियात्मकता का मूलस्रोत देश-प्रेम है, साम्राज्य-प्रेम नहीं। भटार्क से इसीलिए उसने कहा था—'भटार्क यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा।' साम्राज्य से विरक्त होते समय भी वह देश की दुर्दशा के प्रति लोगों को सावधान करता है। वह अपने एकाकीपन पर क्षुब्ध होकर मातृभूमि को विस्मृत नहीं करता। उसका आत्मबल, स्वावलम्बन समस्त आपत्तियों के विरुद्ध उसे अकेला खड़ा रखता है। यदि वह चाहता तो अर्थ पिशाच हूणों को धन देकर देश की रक्षा कर सकता था, क्योंकि उसे विजया का रत्न-भंडार प्राप्त हो गया था। परन्तु यह नैतिकता के विरुद्ध था। अपने को बेच कर साम्राज्य की रक्षा करना उसका अभिप्रेत कभी भी नहीं रहा।

स्कन्दगुप्त के देवोपम आदर्श, उदात्त नैतिक मान्यताएँ, और महान औदार्य आदि गुणों ने भटार्क ऐसे प्रबल प्रतिपक्षी को प्रायश्चित करने के लिए बाध्य किया। लेकिन राजनीति के क्षेत्र में उसके ये ही गुण उसकी असफलताओं के लिए भी उत्तरदायी हैं। सच पूछिए तो अपने सदाचारों का वह स्वयं शिकार हो गया। यदि आंतरिक विद्रोह में योग देने वाले देश-द्रोहियों को प्रारम्भ में ही वह

बुरी तरह कुचल देता तो कुभा की दर्दनाक घटना न घटती। किंतु उसकी राजनीतिक असफलताएँ उसकी चारित्रिक सफलताओं की कोटि में ही परिगणित की जाँयगीं।

माता के प्रति असीम श्रद्धा, विजया के भरे यौवन और मादक सौन्दर्य के प्रति सहज आसक्ति तथा देवसेना के तपःपूत अनौपचारिक प्रेम के प्रति कर्त्तव्य-पूर्ण रुझान उसके वैयक्तिक जीवन की पूर्ण झाँकी प्रस्तुत करती है।

स्कन्दगुप्त के साथियों में गुप्त-साम्राज्य का वृद्ध सेनापति पर्णदत्त बिजली की भाँति चमककर अपनी कौंध की अमिट छाप छोड़ जाता है। कतिपय रेखाओं द्वारा इसका पूर्ण चरित्र अंकित कर लेखक ने एक भाव-प्रवण कुशल शिल्पी होने का अच्छा परिचय दिया है। कुभा की दुर्घटना के बाद विपर्यस्त देश को संघटित करना उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। इस अनुभवी सेनापति को जन-बल में अटूट आस्था है। वह जानता है कि अवशिष्ट सैन्यबल से विदेशियों को निष्कासित करना टिटिहरी का पैरों के बल आकाश थामना है। इसलिए वह जनता से भीख मांगता है—प्राणों की भीख—'मुझे जय नहीं चाहिए भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में।' देश-भक्ति की बलि-वेदी पर आत्माहुति देने वाला बंधुवर्मा राष्ट्र का बिना दाम का सेवक है। कवि मातृगुप्त अपनी कविता से देश में प्राण फूक देने का कार्य करता है। इन सभी देशभक्तों के अमूल्य सहयोग से स्कन्दगुप्त हूणों को पराजित करने में समर्थ हो सका।

चाणक्य

चाणक्य का चरित्र प्रसाद की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। इतना सशक्त व्यक्तित्व, दृढ़ इच्छा-शक्ति, अदम्य उत्साह तथा प्राणवत्ता

अन्यत्र नहीं मिलेगी। लेकिन चाणक्य बेचारे को ब्राह्मणत्व के आच्छादन से ढककर आलोचकों ने उसे बहुत कुछ तेजहत कर दिया है। चन्द्रगुप्त के शब्दों में वह आर्य-साम्राज्य का निर्माण-कर्त्ता है। उसका ब्राह्मणत्व राष्ट्र की शुभ-चिंता में निहित है क्योंकि एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध आर्यावर्त की रक्षा में असमर्थ थे। देश के कल्याण के लिए अनेक खंड-राज्यों को मिटाकर वह एक लोकप्रिय किंतु शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य-सत्ता की स्थापना करना चाहता था। सिंकदर जैसे आक्रामक के समक्ष देश में एक-सूत्रता की स्थापना चाणक्य का असाधारण व्यक्तित्व ही कर सकता था। नंद की सभा में उसका अपमान तो एक निमित्त बन गया।

सिंहरण को मालव और मागध का भेद मिटाकर आर्यावर्त्त का नाम लेने का उपदेश देना, तक्षशिला के गुरुकुल में ही यवनों की गतिविधि के प्रति जागरूक रहना, पर्वतेश्वर को अपनी ओर मिलाने का उपक्रम करना, मालवों और क्षुद्रकों की बिखरी सैन्य शक्तियों को चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में रखना उसकी कूटिनीतिज्ञता और अप्रतिम प्रतिभा और विशाल आयोजन के प्रमाण हैं। इन समस्त आयोजनों के मूल में विदेशियों को देश से बाहर खदेड़ना और एक केन्द्रीय व्यवस्था की स्थापना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

चाणक्य के विचार सुलझे हुए और मेधा अत्यंत तीक्ष्ण और परिपक्व है। वह आत्यंतिक रूप से आत्मविश्वासी और सतर्क है। सुवासिनी के प्रति उसके मन में कोमल भावना की संनिहिति बहुत कुछ औपचारिक हो गई है। वस्तुतः वह लौहस्तम्भ के समान अप्रणत, अनबूझ पहेली की भाँति रहस्यमय, विपक्षियों के लिए यमराज की तरह क्रूर और निर्दय है। उसके शब्दकोश में असंभव शब्द का कहीं पता नहीं है। उसकी प्रतिज्ञा है कि 'दया किसी से न माँगूगा, और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा। क्या कभी नहीं? हाँ, हाँ कभी—किसी पर नहीं। मैं

प्रलय के समान अबाध गति और कर्त्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा।' निरीह कल्याणी की आत्महत्या पर उसका यह कहना कि 'चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए' निष्ठुरता की चरम सीमा है। कुसुम की तरह कोमल और संगीत की तरह मधुर मालविका को बलिवेदी पर चढ़ा देना चाणक्य ऐसे अद्भुत व्यक्ति का ही कार्य है। 'चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हो।' कर्त्तव्य-कठोर कर्त्तव्य के पालन में भावावेग को वह कोई स्थान नहीं देता—यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त के आवेगों को भी वह बार बार चोट पहुँचाता है। उसके कार्य करने की एक विशेष प्रणाली है जिसकी प्रखरता में कोमल भावों के कमलतंतु छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

वह अपने प्रबल प्रतिद्वंद्वी राक्षस की कमजोरियों को, चन्द्रगुप्त की भावुकता पूर्ण प्रवृत्तियों को, कार्नेलिया की आन्तरिक अभीप्सा को अच्छी तरह जानता है। उपयुक्त अवसर पर सभी से काम निकालता है। लेकिन चाणक्य के कंकाल में जो दिव्य-ज्योति दिखाई पड़ती है उसकी चमक से चंद्रगुप्त के पात्रों की आँखें झप जाती हैं, पाठक भयमिश्रित आश्चर्य से उसके रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व को देखते रह जाते हैं। कर्त्तव्य की कठोरता से प्रदीप्त चाणक्य का व्यक्तित्व हमें प्रेरणा देता है, बल देता है, भाग्यवाद के विपरीत कर्मवाद में विश्वास जगाता है। उसके प्रति पाठकों के मन में आदर, प्रतिष्ठा आदि उच्च भाव जागरित होते हैं, किन्तु सहानुभूति नहीं उत्पन्न हो पाती। वह स्वयं सहानुभूति से घृणा जो करता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य

चंद्रगुप्त क्षात्र तेज से संवलित, रणकुशल, स्वावलंबी और आत्म-सम्मान से ओत-प्रोत है। जिस समय आर्यावर्त्त विदेशियों से विमर्दित और आन्तरिक विग्रहों और अव्यवस्थाओं से जर्जर हो रहा था उस समय चाणक्य की देखरेख में चन्द्रगुप्त ने जो साहस और पराक्रम

दिखाया उससे वह अत्यंत उच्चकोटि का देश-सेवक सिद्ध होता है। देश को बेचकर और अपने सम्मान को ठुकराकर स्वार्थ-साधना उसका अभीष्ट नहीं है। इसलिए सिकंदर की अयाचित सहायता वह ठुकरा देता है। विदेशियों की रणनीति से परिचित होने के कारण वह भारतीय युद्ध-प्रणाली में भी परिवर्तन करता है। उसके जीवन का एक बहुत बड़ा ध्येय है यवनों को देश की सीमा के बाहर हटाना। वह सिंहरण से कहता है—'यवनों को यहाँ से हटाना है, और उन्हें जिस प्रकार हो भारतीय सीमा के बाहर करना है। इसलिए शत्रु की नीति से ही युद्ध करना होगा।'

चाणक्य के दूर होने पर और सिंहरण का पत्र प्राप्त होने पर उसका क्षात्र-तेज द्विगुणित हो जाता है और वह अकेले विदेशियों को निष्कासित करने के लिए चल पड़ता है। चाणक्य के सर्व-ग्रासी व्यक्ति की छाया उसे कुंठित नहीं कर पाती। प्रसाद के अन्य नाटकों की भाँति इसके जीवन में भी कई प्रेमिकाएँ आती हैं—यह इसके जीवन का कोमल पक्ष है। त्याग, क्षमा आदि आर्योचित गुण से भी यह सपन्न है। फिर भी स्कन्दगुप्त के चरित्र की भाँति इसके चरित्र में उतार-चढ़ाव नहीं दिखाई पड़ता, इसलिए इसके चरित्र में थोड़ी-बहुत एक-रसता भी आ गई है।

चन्द्रगुप्त का अभिन्न सखा सिंहरण अनन्य देश भक्त, वीर और कुशल सैनिक है। सिंहरण की प्रेमिका और बाद में पत्नी अलका देश की स्वतंत्रता का झंडा फहराने वाली नायिका के रूप में अधिक चित्रित हुई है। इसलिए उसके चरित्र के स्त्रीत्व को देखने का कम अवसर मिल पाता है। इतिहास प्रसिद्ध पौरव वीर, जिसने एक बार अलक्षेन्द्र को भी युद्ध का पाठ पढ़ाया था, प्रसाद की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सका है। अपने स्वामी तथा मगध के प्रति अविचल भक्ति रखने वाले मुद्राराक्षस का राक्षस यहाँ कठिनाई से पहचाना जाता

है। 'मुद्रा-राक्षस' का राक्षस यहाँ आकण्ठ मदिरा में डूबा हुआ सचमुच का राक्षस हो जाता है।

भारतीय नारीत्व के प्रतिनिधि पात्र

भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों में मल्लिका का नाम सर्व प्रथम लिया जायगा। वह अत्यन्त महिमामयी नारी है। स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्तव्य और धैर्य की जीवंत प्रतिमा मल्लिका के आगे सारिपुत्र, प्रसेनजित्, अजातशत्रु और विरुद्धक के साथ पाठकों का शीश भी श्रद्धावनत हो जाता है। विधाता की सृष्टि का अपार सौन्दर्य, अमिताभ गौतम की असीम करुणा, स्त्री की संपूर्ण सरलता और स्निग्धता उसे एक साथ ही प्राप्त हैं।

पति के प्रति अगाध स्नेह रखते हुए भी उसके कर्त्तव्य-मार्ग में अवरोध उत्पन्न करना उसकी महिमा के विरुद्ध है। अपने पति बंधुल के युद्ध-कौशल तथा स्वामिभक्ति के प्रति उसे सहज गर्व है। अकेले पाँच सौ मल्लों को परास्त करने की अपने स्वामी की यशः कथा वह सोल्लास कह जाती है। महामाया से अपने पति के वध का गुप्त षड्यन्त्र सुनकर भी वह किंचित् विचलित नहीं होती। इस तरह वह असाधारण चरित्र की कोटि में पहुँच जाती है। पति के आकस्मिक निधन का कठोर अभिशाप झेलती हुई दूसरे दिन सारिपुत्र के आतिथ्य में कोई त्रुटि नहीं आने देती। इसी से आनन्द उससे स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है और सारिपुत्र उसे 'महिमामयी' और 'मूर्तिमयी करुणा' कहकर संबोधित करता है।

प्रतिहिंसा की वेगवती बर्बरता से उद्विग्न कारायण उसके असाधारण चरित्र को देखकर कह उठता है—'आप देवी हैं। सौर-मंडल से भिन्न जो केवल कल्पना के आधार पर स्थित है, उस उच्च जगत की बातें सोच सकती हैं।' अपने पति के हत्यारे विरुद्धक की सुश्रूषा से

वह पूर्ण मानवता तथा विश्व-मैत्री का अद्भुत परिचय देती है। मल्लिका की महिमा को आँकने के लिए हमें भौतिक जगत से ऊँचा उठना होगा, अन्यथा हमारी आवाज कारायण की ही आवाज होगी।

परिस्थितियों में टूटने और निर्मित होने वाली नारियाँ—

कल्याणी

प्रसाद के नारी पात्रों में कल्याणी सबसे अधिक अभाग्यवान और व्यथापूर्ण पात्र है। इसकी मौन-वेदना और गहन अन्तर्द्वन्द्व 'आकाश-दीप' की चम्पा की याद दिलाते है। दोनों के अन्तर्द्वन्द्वों मे एक अद्भुत साम्य है। लेकिन चम्पा का सौभाग्य कल्याणी को कहाँ प्राप्त हो सका ? उसके प्रिय जल-दस्यु की प्रणय-याचना के समान गौरव उसे कब मिला ? स्कन्दगुप्त की देवसेना का सगीतमय जीवन प्रिय की आराधना में बीता लेकिन उसकी आकांक्षाएँ फलवती न हुईं। फिर 'स्कन्दगुप्त' की प्रतिज्ञा उसे प्रतिदान के रूप मे मिली। मालविका को चन्द्रगुप्त और कामा को शकराज का थोड़ा-बहुत स्नेह और सहानुभूति और संपर्क उपलब्ध हुआ। लेकिन कल्याणी अपनी वेदना को अपने अन्तस्थल में दबाए मूकभाव से संसार से विदा हो जाती है। वृषल नंद की राजकुमारी के साथ मौखिक सहानुभूति प्रकट करने वाला भी कोई नही है—कोई नही है—उसका आराध्य चन्द्रगुप्त भी नहीं। उसके देखते-देखते मगध साम्राज्य छिन गया, पिता की कायरतापूर्ण हत्या की गई, जीवन मे कुछ शेष नहीं बच पाया। मगध के राज-सौध उसी तरह खड़े थे, गंगा शोण से उसी तरह स्नेह से मिल रही थीं, नगर का कोलाहल पूर्ववत था। नंदवंश पहले ही नष्ट हो चुका था। और आज अवशिष्ट चिन्ह भी (कल्याणी) मिटा दिया गया। अंत में चाणक्य की क्रूरतापूर्ण वाणी ने जैसे उसके शव को पैरों से ठुकरा दिया।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी के जीवन में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती जिनके थपेड़ों में जूझती हुई वह आगे बढ़ती जाती है। आरंभ से ही विचारों के ऊहापोह और अन्तर्द्वन्द्वों में उलझी हुई वह परिस्थितियों से टकराती फिरती है। कभी परिस्थितियों को प्रतिकूल देखकर वह टूटती हुई दिखाई पड़ती है तो कभी परिस्थितियों के आनुकूल्य से उसकी आशा-लता हरीभरी हो उठती है। उसके व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ सामाजिक जीवन की समस्याएँ बन गई हैं। वह वाग्दत्ता पत्नी थी चन्द्रगुप्त की लेकिन ब्याही गई रामगुप्त से। विवाह के बाह्य-बंधनों में बंधने मात्र से कोई समस्या नहीं खड़ी हो सकती थी, समस्या तो उसके अन्तरतम से उत्पन्न हुई। वह आंतरिक मन से चन्द्रगुप्त पर अनुरक्त थी लेकिन बाह्य सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ने में असमर्थ थी। आंतरिक प्रवृत्तियाँ और बाह्य सामाजिक मर्यादाओं में जो असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होती है उससे अनेक प्रकार की अव्यवस्थाओं की सृष्टि होती है। रामगुप्त की क्लीवता और संशयात्मक मनोवृत्ति दोनों उसे और भी हठधर्मिणी बना देते हैं। शकराज की मृत्यु के पश्चात् तो वह अपने पक्ष का खुलकर प्रतिपादन करती है और चन्द्रगुप्त को लौह शृंखला तोड़कर अपनी अधिकार-रक्षा में जुट जाने की सलाह देती है। नवीन परिस्थिति में वह नई मर्यादाओं की स्थापना करती हुई युगानुरूप आदर्शों की सृष्टि करती है।

गीतिमय नारीपात्र

देवसेना, मालविका और कोमा के माध्यम से प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व की एकांत गीतिमयता को मूर्त रूप दिया है। प्रणय वेदना से इनके रोमतारों में जो कंपन बँधा वह छूटा नहीं। इनके जीवन

की रागिनी में, आदि से अंत तक, प्रणय और प्रेम की एक कसक भरी गूँज सुनाई पड़ती है। प्रेम की जीवंत प्रतीक इन नारियों की नैराश्य भावना ने इन्हें बहुत कुछ दार्शनिक भी बना दिया है। फिर भी व्यापक सामाजिक हितों की इन्होंने उपेक्षा नहीं की है।

सामान्य रूप से इन काव्यात्मक चरित्रों में एक समता दिखाई पड़ती है किन्तु इनमें पर्याप्त विभिन्नता भी सन्निहित है। 'संगीत-सभा की अंतिम लहरदार और आश्रयहीन तान-सी देवसेना, खिले हुए पुष्प-सा मकरन्द लुटाकर मुरझा जाने वाली मालविका और वृन्त पर मुकलित किंतु खिलखिला कर हँसने में असमर्थ फूल-सी कोमा के अलग-अलग व्यक्तित्व हैं। देवसेना ने दिया बहुत—तन, मन और धन सब कुछ। लेकिन बदले में उसे केवल वह वेदना मिली जिसकी कसक भरी गूँज 'आह वेदना मिली विदाई' के रूप में पाठकों के कोमल चित्त पर एक अमिट छाप छोड़ जाती है। उसका स्वाभिमान—कठोर स्वाभिमान—अंतिम दिनों में भी उसे निष्काम और प्रतिदान शून्य भक्त बनाए रहा। उसकी देश-भक्ति, त्याग, सहिष्णुता आदि अनेक विशेषताएँ उसके वैयक्तिक अनुराग के ही विभिन्न रूप हैं। अनेक प्रकार के राष्ट्रीय कार्यों में उलझी हुई भी वह अपने अन्तर्द्वन्द्वों को विस्मृत नहीं कर पाती—कर भी नहीं सकती। प्रेम नारी का स्वरूप है। उसे छोड़कर उसके पास शेष भी क्या रहेगा ? अपनी कल्पनाओं को आशा भरी, दुलार भरी कल्पनाओं को सुलाती हुई कहती है—'हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा। जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना तेरे लिए क्या अच्छी बात है ?...'

मालविका—स्वर्गीय कुसुम मालविका—का मूक उत्सर्ग अनौपचारिक प्रेम का आदर्श है। युद्ध में इसने भी सेवा का व्रत लिया है किन्तु

देवसेना के स्वभाव के विपरीत युद्ध से घृणा करती है। चन्द्रगुप्त की शैय्या पर बैठने मात्र से उसमें जो मादकता जागरित होती है, वह कितनी सहज और कितनी मनोवैज्ञानिक है। कोमा का प्रेम थोड़ा बहुत सामी (Sematic) प्रकृति का ज्ञात होता है। प्रारम्भ में लगता है कि उसका प्रेम एक विशेष ऋतु का प्रेम है। उस ऋतु-विशेष के पश्चात् उसकी क्या स्थिति होगी, नहीं कहा जा सकता। 'यौवन तेरी अचल छाया' गीत से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। लेकिन कोमा देवसेना की तरह अतिशय गम्भीर और रहस्यमयी नहीं है और न मालविका की तरह अतिशय भावुक। वह अपने मनोभावों को छिपाना नहीं जानती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर कोमा के कथन में पर्याप्त तथ्य दिखाई पड़ेंगे। यौवनागमन के समय ही एक विशेष प्रकार की अतृप्ति, आकांक्षा, मिलनोत्सुकता जागरित होती है। इसलिए कोमा अपनी सरलता में अत्यन्त मोहक बन गई है। ध्रुवस्वामिनी के आगमन का संवाद सुनकर और शकराज की उदासीनता देखकर वह अपने को अपमानित अनुभव करने लगी। शकराज से दूर जाने पर भी प्रेम-पीड़ा की कसक दूर नहीं की जा सकी। आचार्य मिहिरदेव से कोमा कहती है—'तोड़ डालूँ पिताजी! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा वही दुलार भरी वल्लरी···न ऐसी कठोर आज्ञा न दो!' देवसेना को उसका प्राप्य—स्कन्दगुप्त—मिलकर भी उसकी अपनी ग्रंथियों के कारण नहीं मिल पाया, मालविका के उत्सर्ग में एक शांति और तृप्ति दिखाई पड़ती है। लेकिन सरल कोमा को अपने प्रिय का शव मिला वह भी अपमानित होकर। उसका बसंती यौवन, प्रेम का पागलपन, अरमानों का सुनहला विश्व अग्नि की विकराल लाल लपटों में सर्वदा के लिए शांत हो गया। इन तीनों प्रेमिकाओं में कोमा का उच्छ्वास सर्वाधिक निरीह, करुण और उपेक्षामय है। नाटकीय घटना-क्रम में भी इस उपेक्षित रत्न को कहीं जड़ा नहीं जा सका है।

कथोपकथन

प्रसाद के प्रयोगकालीन नाटकों में अन्य नाटकीय तत्त्वों की भाँति कथोपकथन भी अव्यावहारिक तथा कृत्रिम है। संस्कृत नाट्य-प्रणाली के अनुसार पात्र अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओं का प्रयोग करते देखे जाते हैं। 'प्रायश्चित' में प्रसाद ने इसी रूढ़ि का अनुसरण किया है। इसमें आकाश-भाषित की योजना भी की गई है। किंतु इसके पूर्व के 'सज्जन' में जिस पद्यात्मक कथोपकथन का समावेश किया गया है उसे प्रायश्चित में हटा दिया गया है। बाद में प्रसाद ने कथोपकथन का नया ढंग अपनाया।

कथोपकथन नाटक का सर्वप्रमुख उपजीव्य है। नाटक का कथानक कथोपकथन के ताने-बाने से बुना जाता है। कथानक को विशृङ्खल अथवा सुशृङ्खल, गतिशील अथवा अगतिशील बनाने का बहुत कुछ श्रेय कथोपकथन को है। क्रिया-व्यापार और चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को कथोपकथन द्वारा ही उद्घाटित करना संभव है। प्रसाद के कथोपकथन में उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ एक सीमा तक दिखाई देती हैं। प्रसाद के व्यक्तित्व की दार्शनिकता और काव्यात्मक भावुकता उनके कथनोपकथनो में प्रायः मिलती है। उनकी दार्शनिकता के कारण कथोपकथन जहाँ तहाँ दुर्बोध और अस्पष्ट हो गए हैं, लेकिन उनकी काव्यात्मक भावुकता से कथोपकथनों की सारी रुक्षता धुल जाती है और उसके स्थान पर एक ताजगी, स्निग्धता और तरलता दिखाई पड़ती है। इससे वे यथार्थवादियों की गद्यात्मक कर्कशता (prosaic crudness) से सहज में ही बँच जाते हैं।

विशाख और चन्द्रलेखा, भिक्षु और सुश्रवानाग के संवाद कथा को गति देते हैं। अजातशत्रु के प्रारंभ में ही कथोपकथन से कथानक गतिशील होता है और अजातशत्रु, पद्मावती, छलना और

वासवी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इन चरित्रों की मूलभूत विशेषताएँ सहज में ही सामाजिकों की पकड़ में आ जाती हैं। जनमेजय, काश्यप, सरमा, स्कन्दगुप्त, विजया, देवसेना, पर्णदत्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, कल्याणी आदि पात्रों की वाणी उनकी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हैं।

नाटक के कथोपकथन अस्वाभाविक होते हैं। अस्वाभाविक का तात्पर्य यह है कि सामान्य जीवन की वार्ताओं की अपेक्षा उनमें एक साहित्यिक वैशिष्ट्य होता है। इस अस्वाभाविकता को स्वाभाविक बनाने के लिए संवादों में संवेगात्मकता का पुट अत्यंत आवश्यक है। जब तक पात्र रूक्ष बौद्धिक स्तर से उतर कर हृदय की भाषा का व्यवहार नहीं करते तबतक उनके संवादों में मर्मस्पर्शिता नहीं आ पाती। प्रसाद के पात्रों की यह विशेषता पाठकों के साथ उनका रागात्मक संबंध स्थापित कर देती है। परिस्थितियों की विभिन्नता और मानसिक स्थितियों की विविधता कथोपकथन की शैली को अनेक रूप-रंग देती है। लेकिन सच्चा नाटककार उनकी संवेगात्मकता को प्रायः विस्मृत नहीं करता। प्रसाद के नाटकों में सबसे अधिक बुद्धिजीवी पात्र चाणक्य है। उसके संवादों में भी उसका हृदय लिपटा हुआ दिखाई पड़ता है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

'तो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय! इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।'

+ + +

'महाराज! उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था और मगध का सिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल में मैंने अध्यापन का कार्य भी किया है। इसलिए मेरा हृदय नहीं मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।'

यहाँ पर जान बूझ कर उन उदाहरणों को नहीं लिया गया है

जिनमें चाणक्य का भावावेग स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया है। इन सामान्य संवादों में भी उसकी आत्मा का तीव्र आग्रह ओझल नहीं हो पाया है।

प्रसाद की गीतिमयी नारियों के संबंध में केवल इतना ही कहना है कि जो पात्र जितने भावाकुल हैं वे उतने ही अधिक एकान्तप्रिय और मौन हैं। कल्याणी और मालविका का मूक बलिदान ड्राइडेन की इन पंक्तियों की याद दिलाता है—

But my own experience I can tell,
Those who love truely do not arque well.

इसी प्रकार/उत्साह, शोक, हास्य आदि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति के लिए संवादों के विषय और शैली में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ेगा।

व्यंग्य, विनोद, वाक् वैदग्ध्य, प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि सवाद के शोभन तत्त्व हैं। प्रसाद के गंभीर नाटकीय वातावरण में इनके लिए कम अवकाश रहा है। फिर भी इनके संवादों में व्यंग्यादि का एकान्त अभाव नहीं है। विशाख स्थान-स्थान पर अपने प्रत्युत्तर में व्यंग्य का प्रयोग करता हुआ दिखाई पड़ता है—'मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर मोटा होने की आवश्यकता नहीं।' 'वे उसे मठ नहीं विहार कहते हैं।' 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में समय समय पर व्यंग्य—कभी कभी कठोर व्यंग्य—के दर्शन होते हैं। हृदय की खीझ और मानसिक आक्रोश को तीव्र बनाने के लिए व्यंग्य का पैना अस्त्र बड़ा अमोघ सिद्ध होता है। आम्भीक के पूछने पर कि तुम्हारी बातचीत में कुछ रहस्य है सिंहरण उत्तर देता है—

'हाँ-हाँ, रहस्य है! यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख-रजनी की शांति-निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार! संभवतः तक्षशिलाधीश वाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गए थे?'

इसी तरह प्रतिहारी के पूछने पर कि 'भट्टारक इधर आए हैं क्या ? ध्रुवस्वामिनी ईषत् मुस्कराते हुए कहती है—'मेरे अंचरा में तो छिपे नहीं हैं। देखो किसी कुञ्ज में ढूंढ़ो।'

प्रसाद ने स्त्री पात्रों के संवादों में कटूक्तियों को विशेष स्थान दिया है। यह उनके नारी-मनोविज्ञान का सूक्ष्म परिचायक है। कटूक्तियों का व्यवहार करने वाले प्रायः अगंभीर और दुर्बल मनः स्थिति के व्यक्ति होते हैं। सामान्यतः पुरुषों की अपेक्षा नारी जाति में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है। छलना, शक्तिमती, अनन्त-देवी ऐसी ही नारियाँ हैं।

प्रसाद के संवादों की कमजोरी उनकी गहन दार्शनिकता में निहित है। उनके पात्र जहाँ तत्व-चिंतन के ऊहापोह में उलझ जाते हैं वहाँ उनकी वक्तृता अत्यन्त दुर्बोध और जटिल हो जाती है। लंबे-लंबे भाषणों के मूल में भी गुह्य और रहस्य की गाँठे खोलने का आभास ही है। 'स्कन्दगुप्त' में चतुष्पद के पास धातुसेन के लंबे शास्त्रीय संवाद, 'चन्द्रगुप्त' में मालव-शूद्रकों के युद्ध परिषद् के समय चाणक्य की लंबी वक्तृता केवल दुर्बोध ही नहीं बहुत कुछ अनावश्यक भी हैं। अजातशत्रु के कारायण और शक्तिमती के संवाद इस तरह लंबे हो गए हैं कि सामाजिकों के धैर्य का बाँध टूट जाता है। लगता है जैसे दो स्कूली विद्यार्थी रटे-रटाए भाषण देने के लिए रंगमंच पर बारी-बारी से उपस्थित होते हैं। इस तरह के दार्शनिकता से बोझिल लंबे भाषण कथा की गति को अवरुद्ध करते हैं, चरित्रों को निर्जीव सैद्धान्तिक आच्छादन से ढँक देते हैं और सामाजिकों की रसमग्नता में विक्षेप डालते हैं।

स्वगत

प्रसाद के 'विशाख' नाटक के महापिंगल ने कहा है—'जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक समाज या रंगमंच सुन लेता है, पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उनको भरत बाबा

की शपथ है।' इससे साफ है कि प्रसाद नाटकीय 'स्वगत' को अवांछनीय तत्व स्वीकार करते है। किंतु उनके नाटकों में यह प्रचुर मात्रा में व्यवहृत हुआ है। क्यो?

संभव है अपने नाटकों के प्रारंभिक काल में यह विचार उन्हें संगत प्रतीत हुआ हो और बाद में स्वगत को उन्होंने बहुत अवांछनीय न माना हो। आज के नाटकों में स्वगत पुनः आ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वगत को सर्वथा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। नाटक में जीवन के सघन क्षणों को व्यक्त करने के लिए यह सशक्त उपादान है। इसका अतिरेक नाटकीय गति में बाधा अवश्य पहुँचाता है। इस अतिरेक का दोष प्रसाद पर मढ़ा जा सकता है। लेकिन केवल स्वगत के प्रयोग मात्र से उन्हें अपराधी नहीं करार दिया जा सकता।

स्वगत में पात्र प्रायः तीन तरह से अपने चरित्र की अभिव्यक्ति करते हैं। कभी उसके द्वारा सूक्ष्म तथा गूढ़तर आत्मदशा की व्यंजना होती है, कभी प्रगाढ़ जीवनानुभूतियों को व्यक्त किया जाता है और कभी धर्म, नीति, दर्शन और कला संबंधी गंभीर विचार व्यक्त किए जाते हैं। इनमें अंतिम ढंग स्वगत का निकृष्टतम रूप है। प्रसाद ने जहाँ स्वगत द्वारा धर्म, नीति आदि की व्याख्या की भी है वहाँ जीवनानुभूतियों और गूढ़तर आत्मदशा को विस्मृत नहीं किया है। सच पूछिए तो उनके स्वगत में प्रथम दो दशाएँ ही मिलती हैं।

स्कन्दगुप्त के प्रारंभ में स्कन्द का स्वगत किसी प्रकार भी अरंगमंचोपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उसके द्वारा स्कन्द की जो गूढ़ आत्मदशा व्यक्त हुई है वह उसके चरित्र की रीढ़ है। इसको न पकड़ पाने पर स्कन्द को समझना काफी कठिन है। उसके क्रिया-कलापों, अवसादपूर्ण क्षणों, गभीर उत्तरदायित्वपूर्ण कर्मों के बीच इसकी अन्तर्वर्तिनी धारा की क्षीण ध्वनि सर्वत्र सुनाई पड़ती हैं। देवसेना के स्वगत के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। इन

स्वगतों द्वारा नाटककार ने पाठकों की राग-वृत्ति को उद्बुद्ध करने का प्रयास किया है। इससे नाटकीय प्रभावान्विति को बल मिलता है।

इन स्वगतों से प्रसाद ने एक दूसरा काम भी लिया है। वह है कुछ घटनाओं की सूचना देना। मुद्गल, मातृगुप्त प्रपंचबुद्धि के स्वगत प्रायः इसी ढंग के हैं। इसीलिए इस तरह के स्वगतों को नाटककार ने या तो अंक के प्रारंभ में रखा है या किसी संबद्ध दृश्य के आदि में।

आवश्यकता इस बात की है कि प्रसाद द्वारा प्रयुक्त स्वगतों पर विवेकपूर्ण और सहानुभूति पूर्वक विचार किया जाय। यदि विस्तार-पूर्वक इस पर विचार हो तो कदाचित इनके स्वगत कुछ ही स्थानों पर अयथास्थान और असंगत प्रतीत हों।

अभिनेयता

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर प्रसाद के अधिकांश नाटक त्रुटिपूर्ण माने जाते हैं। घटना-विस्तार, लंबे दार्शनिक भाषण, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत-कथन की अस्वा-भाविकता आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो अभिनेता और सामाजिक के बीच खाईं का काम करती हैं।

आज 'रंगमंचीय नाटक' बहुत अच्छे अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता है। प्रसाद के नाटकों का गांभीर्य औदात्य हिन्दी के किसी अन्य नाटककार में नहीं पाया जाता। केवल रंगमंच की दृष्टि से नाटक लिखने वालों की तो बात ही छोड़ दीजिए, जिन लोगों ने नाटकीय औदात्य और रंगमंचीयता के समन्वय को दृष्टि में रखकर नाट्य रचना की है वे लोग भी अनेक दृष्टियों से प्रसाद के समकक्ष नहीं उठ पाए। यदि पूर्वग्रह को छोड़कर विचार किया जाय तो कहना होगा कि प्रसाद के नाटकों में जो गांभीर्य आया है उसके मूल में रंगमंच की अवहेलना का बहुत कुछ योग है। अपने अंतिम नाटक

ध्रुवस्वामिनी की रचना में प्रसाद ने रंगमंच का पूरा ख्याल रखा है और रंगमंच की दृष्टि से यह पूर्ण सफल है। लेकिन यह रंगमंचीय सफलता प्रसाद की सफलता नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' का गांभीर्य और औदात्य लुप्त हो गया है।

प्रसाद के नाटको की अभिनेयता के संबध में बहुत अधिक शोर मचाने की जरूरत इसलिए भी नहीं मालूम पड़ती कि इसके कारण उनके साहित्यिक गौरव को कोई ठेस नहीं पहुँचती। उनके पठन मात्र से भी हमें रसानुभूति होती है। फिर कतिपय परिवर्तनों के साथ साहित्यिक जनता के सम्मुख उनका अभिनय किया जा सकता है। काशी में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गत अधिवेशन के समय उनका 'स्कन्दगुप्त' सफलता पूर्वक अभिनीति भी हो चुका है।

प्रसाद की सफलता कहा है?

प्रसाद के नाटको की सफलता उनके शिरीष-कुसुम से कोमल तथा वज्र से भी कठोर पात्रों की सर्जना में, सर्वत्र प्रवाहित होने वाली अन्तः सलिला काव्य-धारा में तथा उनके जीवन दर्शन और व्यापक दृष्टिकोण में निहित है। प्रसाद की चरित्र-सर्जना का विवेचन किया जा चुका है। शेष दो सफलताओं की मीमांसा यहाँ की जाती है। वस्तुचयन, चरित्र-चित्रण, नाटकीय परिस्थितियाँ-सभी में काव्य-रागिनी की मधुर प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। उनके नाटकों में गीतों की काफी संख्या मिलेगी, जो कवि की अशेष तन्मयता के भावोच्छ्वास हैं। अधिकांश पात्रों के जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ उनके व्यक्तित्व के कोमल पक्ष (प्रेम-पक्ष) का रंगीन चित्र भी खींचा गया है। कहीं कहीं प्रेम के ये कसक पूर्ण चित्र नाटक का अनिवार्य अंग नहीं हो सके हैं किंतु चरित्र के वैयक्तिक पक्ष के भावाकुल क्षणों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुए हैं।

समग्र रूप से उनके नाटकों में प्रेम के अनेक पक्षों को अत्यंत कुशलता पूर्वक अंकित किया गया है। इस दृष्टि से संस्कृत नाटकों की भाँति प्रसाद भी रोमैंटिक हैं। यदि कहीं प्रेम में उद्दाम विलास और यौवन की ऊष्ण गंध है तो कहीं अनुभूतिमयी प्रेयसी की उपेक्षा पूर्ण तीव्र कसक। यदि कहीं अनियंत्रित वासना मूलक प्रेम घोर प्रतिक्रियात्मक है तो कहीं प्रिय के लिए प्राण-सौरभ लुटा कर सर्वदा के लिए मिट्टी में लीन हो जाने वाले नरगिसी रूप और यौवन। पात्रों के उच्छ्वसित गीत सर्वत्र परिस्थिति-सापेक्ष न होते हुए भी इन्द्रधनुषी रंगीनी से स्पंदित और अपने में पूर्ण तथा अत्यत शोभन हैं। परिस्थिति-सापेक्ष गीतों में नाटककार ने परिस्थितिगत अनेक मानसिक दशाओं तथा मनः कल्पनाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म धड़कनों को लय प्रदान किया है। जीवन के गुरुतर कर्त्तव्यों से बोझिल व्यक्तित्वों की अश्रुपूर्ण छवियों में उनके कवि की व्यापक सहानुभूति प्रतिबिंबित हुई है।

सच पूछिए तो उनके नाटकों की मार्मिकता उनके रंगमय काव्य-तत्व में ही दीख पड़ती है। वह पाठकों को काफी दूर तक अनुभूतिमय बना देता है। नाटकीय दृष्टि से यह उनकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है। लेकिन इन्हीं कमजोरियों में उनकी महत्ता अनुस्यूत है। विभिन्न नाटकीय परिस्थितियों में मनोजगत के उल्लास और रुदन की, वीर और शृंगार की, करुणा और शांत की अनेक मनोरम झाँकियाँ सर्वत्र बिखरी हुई दिखाई पड़ती हैं। कठोर से कठोर और कोमल से कोमल भावाभिव्यंजना के वे प्रकृत शिल्पी हैं। लेकिन प्रायः इनका अतिरेक नहीं हो पाया है।

मूलतः रोमांटिक होने के कारण इन नाटकों का वस्तु-विन्यास विशृंखलित और अभिनेयता त्रुटिपूर्ण हो गई है। लेकिन इनकी रोमांटिक कल्पनाएँ अपनी परिधि लाँघकर अतीन्द्रीय लोक में विचरण नहीं करतीं। इसके विपरीत वे जीवन के मूल स्रोतों और सामान्य

ऐंद्रीय अनुभूतियों से अपना संपर्क बराबर बनाए रखती हैं। क्लासिकल कलाकार जहाँ बुद्धि और तर्क का अधिक भरोसा रखता है वहाँ रोमैंटिक साहित्यकार हृदय की पुकार और अन्तर्मन के विश्वासों (faith) का। यही कारण है कि पात्रों में अपने देश, जाति, गौरव तथा आत्माभिमान के लिए अपने को लय कर देने की एक तीखी चाह दिखाई पड़ती है। उनमें बुद्धि का आग्रह कम और आत्मा की तड़प कहीं अधिक परिलक्षित होती है।

प्रसाद जीवन के अद्भुत द्रष्टा और तत्त्व-चिंतन के एकांत अभ्यासी थे। दर्शन के तल-स्पर्शी अध्ययन की पृथुल अन्तर्धारा उनकी रचनाओं में सर्वत्र प्रवहमान है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दर्शन की जटिल गुत्थियों को दार्शनिक की भाँति सुलझाने का प्रयास करते हैं। दर्शन और विज्ञान जीवन को एक सीमा तक ही समझ सका है। ऐसी स्थिति में उसकी रहस्यमयता अब भी बनी हुई है। गणित के नियमों के अनुसार कुछ स्थूल सिद्धान्तों को ही जीवन का सब कुछ समझ लेना उनके जीवन-दर्शन के प्रतिकूल था। उनके नाटकों में नियति का जो अत्यधिक आग्रह दिखाई पड़ता है उसके मूल में कदाचित यह रहस्यमयता ही है।

प्रसाद की नियति, दार्शनिकता, कर्मयोग इस तथ्य के द्योतक हैं कि भारतीय संस्कृति में उनकी अमोघ आस्था है। उनके प्रायः सभी-नाटक-रूप और आत्मा में—भारतीय संस्कृति के गहरे रंग में डूबे हुए हैं। लेकिन वे किसी भी अर्थ में पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भारतीय संस्कृति के चित्रों को खूब उभार कर चित्रित किया है। किन्तु ह्रासोन्मुख रूढ़ियों को यथास्थान अंकित करने का उनका प्रयास कम स्तुत्य नहीं है। उनके ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिए जीवंत सन्देश भरे पड़े हैं। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भी उनके नाटकों में पूरा-पूरा समावेश हुआ है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा

जा सकता है कि राष्ट्रीय जागरण तथा उसकी कमजोरियों को अंकित करने के लिए उन्होंने इतिहास का आच्छादन ग्रहण किया था। विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष तथा अवांतर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए भी वे मूलवर्तिनी भारतीय सांस्कृतिक धारा को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ हैं।

जिस सांस्कृतिक वातावरण को प्रसाद ने अपने नाटकों में अंकित किया है, उसमें आधुनिक भारतीय समस्याओं को दूध-मिश्री की भाँति मिला दिया है। राष्ट्रीय एकता के सबसे बड़े ध्वंसात्मक तत्त्व—भेद-भाव—पर प्रसाद ने तीव्र कशाघात किया है। मागध-मालव में जिस प्रान्तीयता की गंध मिलती है, ब्राह्मण-बौद्ध में जो कट्टर साम्प्रदायिकता परिलक्षित होती है, उन पर प्रसाद का तीखा प्रहार उनके नवीन दृष्टिकोण का द्योतक है। राष्ट्रीय भावना के कट्टर हिमायती होते हुए भी वे कभी इसे उस सीमा तक नहीं ले जाते जहाँ 'फासिज्म' का उदय होता है। इसके विपरीत स्थान-स्थान पर वे विश्व-मैत्री की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते रहते हैं। 'विश्वमैत्री' के उद्घोष से एक ही साथ दुहरे उद्देश्य की सिद्धि होती है। जहाँ एक ओर इसके द्वारा भारतीय संस्कृति का एक प्रधान स्वर 'वसुधैव कुटुंबकम्' मुखरित होता है वहाँ दूसरी ओर नवीन युग-चेतना को बल मिलता है। अपने दो नाटकों—'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में जनबल और जन-मत की वास्तविकता को पहचान कर उन्होंने जनता को एक महत्त्वपूर्ण निर्णयात्मक तत्त्व स्वीकार किया है। पर्णदत्त जनता से जीवन की भीख माँगता है। चाणक्य नंद को क्षमा-दान करने के लिए नागरिकों का मुँह देखता है। स्कन्दगुप्त के वृद्ध सेनानी पर्णदत्त के मुख से आज की साम्यवादी विचारधारा फूट पड़ती है—'देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने हमारे लिए—हम भूखों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है; उसे लौटाने में इतनी कुटिलता...' इसी प्रकार 'विशाख' में राज्य-कर से

मुक्त बड़ी-बड़ी जमींदारियों का उपभोग करने वाले महंतों और भिक्षुओं पर भी आड़े हाथों लिया गया है। महापिंगल कहता है—'महाराज। अब तो मैं तपस्या करूँगा कि यदि पुनर्जन्म हो, तो मैं किसी विहार का महन्त होऊँ। राज-कर से मुक्त, अच्छी खासी जमींदारी, बड़े-बड़े लोग सिर झुकावें और चेली लोग पैर दबावें...'

नारी-जीवन को भी प्रसाद ने कई कोणों से परखा है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट आस्था उन्हें कहीं भी पंगु (stagnant) बनाकर सड़ाती नहीं, बल्कि उन्हें युगानुरूप गत्यात्मकता प्रदान करती है। एक ओर भारतीय नारीत्व का आदर्श उपस्थित करने वाली महिमामयी मल्लिका है तो दूसरी ओर नई परिस्थितियों में अपने पति से संबंध-विच्छेद करने वाली ध्रुवस्वामिनी। इस युग की माँग को प्रसाद ऐसे मनीषी ने शास्त्रानुमोदित सिद्ध करके इसे और भी बल प्रदान किया है। 'देव, मा, सहचरि, प्राण' को अनेक नारी पात्रों में प्रतिबिंबित देखा जा सकता है। 'मल्लिका' साक्षात् देवी, देवकी ममतामयी मा, देवसेना, मालविका, कल्याणी और कोमा 'प्राण' हैं। 'सहचरि' का आंशिक रूप मल्लिका में और कुछ अलका में मिल जाता है।

इस प्रकार प्रसाद ने आधुनिक जीवन और उसकी समस्याओं का कहीं हल्का किंतु भावमय और कहीं गहरा और दार्शनिक स्पर्श किया है। उनके ऐसे गहन और व्यापक जीवन द्रष्टा की विचार-प्रवणता और रसात्मक अनुभूति ने जीवन की कर्कशता में एक कोमलता और आर्द्रता घोल दी है।

प्रसाद के समसामयिक

प्रसाद के समसामयिक नाटककारों ने मुख्य रूप से ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की रचना की। सुदर्शन का 'दयानंद' (१६१७), बलदेव प्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' (१६१८) उग्र का 'महात्मा ईसा' (१६२२) प्रेमचन्द का 'कर्बला' (१६२४), बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती' (१६२६), मिलिन्द का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुना' (१६२६), उदयशंकर भट्ट का 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१६३१) और 'विक्रमादित्य' और गोविंददास का 'हर्ष' (१६३५) आदि नाटक ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में आते हैं। पौराणिक नाटक भी प्रायः इन्हीं लेखकों ने लिखा है। मैथिलीशरण गुप्त का 'तिलोत्तम' (१६१६) 'चन्द्रहास' (१६१६) और 'अनघ' (१६२५) कौशिक का 'भीष्म' बद्रीनाथ भट्ट का 'बेन चरित्र' (११२१) मिश्रबंधुओं का 'पूर्व भारत' (१६२२) और 'उत्तर भारत' (१६२३), सुदर्शन का 'अंजना' (१६२२) गोविंद बल्लभ पंत का 'वरमाला' आदि पौराणिक नाटकों की श्रेणी में आते हैं।

उपर्युक्त सूची को देखते हुए यह स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश लेखकों ने नाटक-लेखन को गंभीरता पूर्वक नहीं अपनाया। किसी ने एक और किसी ने दो-तीन नाटक लिखकर इस कार्य से विश्राम ले लिया। केवल बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्दबल्लभ पंत गोविन्ददास और उदयशंकर भट्ट ने नाट्यरचना को अपना प्रधान साहित्यिक कार्य माना। लगे हाथ नाटक लिखने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अधिकांश नाटक अति सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ पाए।

प्रेमचन्द तो 'कर्बला' और 'संग्राम' (उन्हीं का लिखा हुआ १६२२

का सामाजिक नाटक) में नाहक फँसे। हिन्दू-मुस्लिम एकता-आन्दोलन के कारण कदाचित मुसलमानों के धार्मिक विषय की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ हो। अनावश्यक विस्तार, अत्यधिक शिथिल वस्तु-विन्यास तथा मेलोड्रामैटिक तत्वों के अतिरेक के कारण यह उपन्यास अधिक और नाटक कम है। उनका दूसरा सामाजिक-औपन्यासिक नाटक 'संग्राम' पूर्व निश्चित योजना का अनुसारी और ऊबड़-खाबड़ है। मैथिलीशरण गुप्त के नाटकों का भी कोई उल्लेखनीय महत्व नहीं है। अनघ और चन्द्रहास में गांधीवादी दर्शन का पुट जरूर है। प्रसिद्ध कथाकार सुदर्शन का 'अंजना' नाटक कथा की दृष्टि से रोचक अवश्य है किंतु नाट्य विधान के विचार से इसका विशेष महत्त्व नहीं आँका जा सकता। हाँ, पौराणिक पात्रों को मानवीय भूमि पर उतारने का इसमें सफल प्रयास किया गया है। कौशिक का 'भीष्म' रंगमंचीय नाटक है। उग्र का 'ईसा' द्वन्द्व-रहित और निर्जीव है। इसमें उग्र की शैली की जिन्दादिली और भावनामयता का अच्छा चमत्कार दिखाई देगा। पारसी रंगमंच की शोखी और गांधीवादी युग की सुधार भावना दोनों को यहाँ एक साथ ही देखा जा सकता है।

अब यहाँ पर उन नाटककारों की कृतियों पर विचार किया जायगा जिन्होंने नाटक-रचना को अपना प्रधान साहित्यिक कार्य माना है। भट्टजी का 'दुर्गावती' ऐतिहासिक नाटक है, लेकिन नाट्य-कला के विचार से इसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है। लेखक के संग्रह और त्याग पर विशेष ध्यान न देने के कारण कथा कहीं पर अत्यन्त संक्षिप्त और कहीं पर अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गई है। लेकिन राष्ट्रीय जागरण को चित्रित करने का अवकाश लेखक ने निकाल लिया है। 'वेनचरित' पौराणिक नाटक में युग-चेतना खूब उभर कर आई है। पर नाटकीय परिस्थितियों की कमी और कार्य-व्यापार की न्यूनता इसके नाटकीय महत्व को बहुत कुछ कम

कर देती है। गोविंद वल्लभ पंत, गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट के नाटकों की चर्चा आगे की जायगी। प्रसाद के अवसान के बाद मुख्यतः ये ही लोग नाटक लिखते रहे। इन नाटककारों का विकास-क्रम समझने के लिए इनके नाटकों पर समग्र रूप से विचार करना होगा।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने प्रसाद के समय में ही नाटक लिखना प्रारंभ कर दिया था। इनके नाटक 'सन्यासी' और 'राक्षस का मंदिर' १६३१ में और 'मुक्ति का रहस्य' १६३२ में प्रकाशित हो चुके थे। मुख्य रूप से ये प्रसाद के परवर्ती नाटककारों में ही आते हैं। अतः इनके नाटकों का मूल्यांकन भी बाद में ही किया जायगा।

इस समय कुछ उल्लेखनीय प्रहसन भी लिखे गए।[1] इस काल के प्रहसन प्रसाद के पूर्व के प्रहसनों से विषय-वस्तु और शैली में बहुत कुछ भिन्न हो गए। भारतेंदु-युग से प्रसाद के आगमन तक के प्रहसनों के प्रमुख आलंबन हुए ढोंगी पंडे-पुरोहित, वेश्यागामी पुरुष आदि। द्विवेदी युग में जिस तरह उत्थानमयी नारी के चित्रों को नाटकों में अंकित किया गया उसी तरह प्रहसनों में नारी पर अत्याचार करने वाले वेश्यागामी पुरुषों को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया। तत्कालीन अंधविश्वासों की सीमा भी उस समय जादू-टोना तक ही थी। अब राष्ट्रीय जागरण को देखते हुए कौंसिल की मेम्बरी करने वाले लोगों को बैसाखनदन की उपाधि दी गई। आनरेरी मजिस्ट्रेट के रूप में

---

१ जी० पी० श्रीवास्तव रचित, 'उलट-फेर' 'दुमदार आदमी', 'गड़-बड़ झाला', 'मरदानी औरत', और 'भूल-चूक', गोविन्द वल्लभ पंत की 'कंजूस की खोपड़ी', रामदास गौड़ का 'ईश्वरीय न्याय', बद्रीनाथ भट्ट का 'लबड़ धौंधौं', 'विवाह विज्ञापन', 'मिस अमरीका', सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' उग्र का 'चार बेचारे' आदि।

सरकारी पिट्ठुओं को आड़े हाथों लिया गया। मध्यवर्गीय स्थिति को भी सामने ले आया गया।

बद्रीनाथ भट्ट के 'मिस अमेरिका' में दुहरे व्यक्तित्व वाले सेठ जी को खूब बेवकूफ बनाया गया है। इसमें सेठजी के साथ साथ पाश्चात्य कृत्रिम साज-सज्जा (मेकअप) और रूप पर व्यंग्य है। पति को जूते से पिटवा कर लेखक अपने स्तर को बहुत कुछ गिरा देता है। फिर भी यह प्रहसन सुन्दर बन पड़ा है। 'मिस अमेरिका' भट्टजी का दूसरा प्रहसन है। 'मिस अमेरिका' योरोपीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। उसके जीवन का एकांत लक्ष्य है धन। उसके माता-पिता पूर्वीय आध्यात्मिकता को केवल वायवी वस्तु समझते हैं। रंग-भेद की नीति में उनकी अटूट आस्था है। आज भी 'मिस अमेरिका' का कथानक पश्चिम के अधिकांश देशों, विशेष रूप से अमेरिका का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रहसन में प्रकारान्तर से रीतिकालीन कविताओं पर भी व्यंग्य किया गया है। जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों से फूहड़ हास्य की सृष्टि होती है। पात्रों के बेढब नामों से हास्य उत्पन्न करना उनकी प्रमुख टेकनीक है। इनके प्रहसन सामान्य स्तर से भी नीचे हैं।

अनुवाद की परम्परा इस समय भी जारी रही। संस्कृत से कालि-दास, भास आदि के कुछ नाटकों के अनुवाद किए गए। शेक्सपियर के कई नाटकों के अनुवाद लाला सीताराम ने किए। टालस्टाय, मोलियर, गाल्सवर्दी, मेटरलिंक के नाटकों के भी हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किए गए। बंगला से डी० एल० राय और रवीन्द्र के कई नाटक हिन्दी में अनूदित हुए। डी० एल० राय के अनुवादों ने हिन्दी नाटको को प्रभावित किया। प्रभाव की दृष्टि से अन्य अनुवादों का कोई विशेष मूल्य नहीं है।

प्रसाद के परवर्ती नाटक

प्रसादजी द्रष्टा कलाकार थे, प्राचीन सांस्कृतिक वैभव और आदर्शात्मक औदात्य के प्रति उनकी गहन आस्था थी। अतीत की रंगीनी उनके रोमैंटिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल पड़ती थी; अतः अपने नाटकों के लिए उन्होंने उसी काल को चुना जो भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। पर आधुनिक जीवन के प्रति उनके विश्वासों ने उन्हें पुनरुत्थानवादी होने से बचा लिया। उनके ऐतिहासिक नाटकों में आधुनिक समस्याओं और राष्ट्रीय भावनाओं का जो रंग दिखाई पड़ता है उससे स्पष्ट है कि वे अतीत के फलक पर अपने समसामयिक भावों और विचारों को आकार देना चाहते थे।

उनके ऐतिहासिक नाटकों में मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का चित्रण और उत्कट राष्ट्रीय भावनाओं का अंकन। इन दोनों प्रवृत्तियों के ताने-बाने से ही उनके ऐतिहासिक नाटकों के कथानक बुने गए हैं। गांधीवादी विचार-धारा में भी ये ही ताने-बाने दिखाई पड़ते हैं। बाद में राष्ट्रीय आन्दोलन ने जो व्यापक रूप ग्रहण किया उससे नाटककारों ने प्रायः ऐसे ही नाटक अधिक लिखे जो राष्ट्रीय भावनाओं को प्रतिबिंबित कर सकें। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन नाटकों में भारतीय संस्कृति को चित्रित नहीं किया गया है। पर इसका स्थान गौण है, इसमें संदेह नहीं। इसी तरह सांस्कृतिक नाटकों में भी सांस्कृतिकता का प्राधान्य है और राष्ट्रीयता के चित्रण का स्थान गौण। प्रधान प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए प्रसाद के परवर्ती ऐतिहासिक नाटकों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—ऐतिहासिक-राष्ट्रीय और ऐति-

हासिक सांस्कृतिक। ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटकों में कुछ तो स्वतंत्रता के पूर्व लिखे गए और कुछ स्वतन्त्रता के बाद। इसलिए उनकी रचना के मूल उद्देश्यों में अन्तर आ जाना स्वाभाविक था। इस काल के थोड़े से पौराणिक नाटकों में या तो राष्ट्रीयता का स्वर प्रबल पड़ गया या अन्य समस्याओं के समाधान का प्रयास प्रमुख हो उठा है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ प्रसाद के पौराणिक नाटक 'जनमेजय के नागयज्ञ' में भी पाई जाती हैं।

प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' में समस्या का जो संकेत मिलता है उसका विकास इस काल के समस्या नाटकों में हुआ। समस्या नाटकों को बहुत कुछ डी० एल० राय के भावुकतापूर्ण रोमानी नाटको और प्रसाद के ऐतिहासिक रोमानी नाटकों की प्रतिक्रिया भी कहा जाता है। पर १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इब्सन और शा ने नाटकों के क्षेत्र मे जिस यथार्थवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया और उसका जो अन्तराष्ट्रीय प्रभाव पड़ा उससे हिन्दी नाटककार अछूते नहीं रह सके। कहना न होगा कि समस्या-नाटकों का यह पौदा विदेशी प्रेरणा के फलस्वरूप ही पैदा हुआ। यह दूसरी बात है कि यहाँ कि मिट्टी और खाद-पानी से पोषित होकर यह सर्वथा भारतीय रंग में रँग गया। समस्या-नाटकों के अतिरिक्त विविध सामाजिक समस्याओ को लेकर अनेक सामाजिक नाटकों की भी रचना हुई।

ऐतिहासिक राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता के पूर्व

स्वतंत्रता के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर जब गाँधीजी के हाथ में आई तब देश की युद्ध-पद्धति में ही परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि बहुत से पुराने नैतिक और सामाजिक मूल्य भी बदले। उनके व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण जाति-भेद और वर्ण-व्यवस्था के बंधनों को प्रबल झटका लगा और मानव-मानव की समता के सिद्धान्त को लोगों ने बौद्धिक दृष्टि से स्वीकार कर लिया। सदियों तक पराधीनता के पाश में बँधी हुई नारी के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण बदला और वे राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से योग देती हुई दिखाई देने लगी। इस समय देश की आंतरिक एकता बनाए रखने के लिए आवश्यकता थी गृह-कलह को रोकने की। राष्ट्रीय आन्दोलन को हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य के कारण काफी क्षति पहुँच रही थी। गांधीजी ने इसे रोकने की प्राणपण से चेष्टा की और आखिरकार इसकी बलिवेदी पर अपने अमूल्य जीवन का भी बलिदान कर दिया।

देश की इस आंतरिक एकता के स्थापन का सबसे अधिक अनुभव हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने किया और उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की विषय-वस्तु का चुनाव इतिहास के उन्हीं पृष्ठों से किया जिनमें उनकी भावनाओं के अनुरूप बहुत से सूत्र बिखरे हुए थे। 'शिवा-साधना' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'पंजाब में ज्ञान बाँसुरी और कर्म का शंख फूकनेवाली बहिन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में—हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं।

उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया।' उनके 'रक्षा-बंधन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न-भंग' 'आहुति' आदि में उसी एकता का प्रतिपादन किया गया है।

'रक्षा-बंधन' में कर्मवती की राख को देखकर हिमायूँ कहता है—'यह खाक इन्सानियत की आँखों का अंजन है।...महाराणा! बहन कर्मवती की चिता की यह आग मजहबी तअस्सुब की जलन न पैदा करे।...सारे मुसलमान बुरे हैं, यह न समझना...मैं तो हिन्दुओ के कदमों में बैठकर मुहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।' हिन्दू-मुस्लिम एकता का जो प्रयास गांधी जी ने किया उसे फलीभूत होते न देखकर नाटककार ने 'स्वप्न-भंग' की जहाँनारा से कहलाया है—'आज एक महान स्वप्न भंग हो गया। क्या भारत की भावी पीढ़ियाँ इस महान बलिदान को भूल जावेंगी।...हिन्दुस्तान क्या तू इस आवाज को सुनेगा? सुनकर कुछ करेगा?'

सांस्कृतिक दृष्टि से इन दो भिन्न जातियों को समन्वित करने का प्रयास ही प्रेमी जी के नाटकों का मुख्य लक्ष्य रहा है। मुसलमानों के प्रति प्रेमी जी के प्रधान पात्रों का जो दृष्टिकोण है उसका प्रतिनिधि उदाहरण 'रक्षाबन्धन' की कर्मवती के ये शब्द हैं—'चौकती क्यों हो, जवाहरबाई! मुसलमान भी इन्सान हैं। उनके भी बहनें होती है। सोचो तो बहन, क्या वे मनुष्य नहीं हैं? क्या उनके हृदय नहीं है? वे ईश्वर को खुदा कहते हैं, मंदिर में न जाकर मस्जिद में जाते हैं। क्या इसीलिए हमें उनसे घृणा करनी चाहिये?' शिवाजी का मुसलमान स्त्री, कुरान और मस्जिद के प्रति आदर भाव सांस्कृतिक एकता और धार्मिक सहिष्णुता की ओर संकेत करता है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उदार सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि मुसलमान इस देश को अपना

देश समझें। जब तक वे इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं, तब तक उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा जाना स्वाभाविक है'। लेकिन ऐसे मुसलमानों की कमी नहीं है जो इस देश को ही अपना देश समझते है। शिवा-साधना के बाजी और 'प्रतिशोध' के बकी खाँ ऐसे ही पात्र हैं। बकी खाँ कहता है—...बुन्देलखंड क्या सिर्फ बुन्देलों की है? क्या यह जमीन सिर्फ हिन्दुओं को दाना-पानी देती है, हम मुसलमानों को नहीं? मजहब के नाम पर मुल्क के टुकड़े न करो सुजानसिंह। जिस मुल्क में हम पैदा हुए, जिसकी मिट्टी में हम खेले-कूदे, जिसके आबोदाना से हम पले, उसकी आजादी से क्या हमारा कोई ताल्लुक नहीं?'

कुछ विशिष्ट राष्ट्रीय आदर्शों को अपना एकांत लक्ष्य बना लेने के कारण 'प्रेमी' के पात्र बहुत कुछ उन आदर्शों के ही प्रतिरूप बन गए हैं। यही कारण है कि उनके पात्रों को वह मानवीय व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है जो प्रसाद के पात्रों को उपलब्ध हो सका है। प्रसाद के चरित्र जहाँ मानवीय संवेदना उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ प्रतीत होते हैं वहाँ प्रेमी के पात्र भावनाओं के प्रतीक से होकर रह गए हैं।

प्रसाद के व्यास, गौतम आदि की परंपरा में प्रेमी के साहशेख औलिया, प्राणनाथ प्रभु, स्वामी रामदास आदि आते हैं। लेकिन जहाँ व्यास और गौतम नाटक को मोड़ देते हैं वहाँ प्रेमी के इस प्रकार के पात्र ऐतिहासिकता की रक्षा भर करते हैं।

प्रसाद और प्रेमी के अधिकांश नायक मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए प्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं। पर प्रसाद के पात्रों के चतुर्दिक कुछ वैयक्तिक समस्याएँ इस प्रकार से घिरी रहती हैं कि जीवन अपनी समग्रता में चित्रित हो उठता है। इन समस्याओं के अभाव में प्रेमी के पात्र प्रायः एकांगी हैं। उनके समस्त पात्रों में शिवाजी का व्यक्तित्व सर्वाधिक व्यापक है। उसके

जीवन में अपेक्षाकृत गंभीर राजनीतिक परिस्थितियाँ आती हैं और यही कारण है कि वह उनसे जूझता हुआ इतना महान बन पाता है। प्रेमी ने शिवाजी को उसकी कुछ वैयक्तिक समस्याओं से भी संबद्ध किया है पर ये समस्याएँ पाठकों या दर्शकों में भावानुभूति नहीं जागरित कर पातीं। अंत में माता जीजाबाई के निधन पर शिवाजी को जिस प्रकार शोक-विह्वल चित्रित किया गया है वह बहुत कुछ पूर्व-निश्चित और कृत्रिम हो गया है। शिवाजी के उद्‌गारों को इस ढंग से व्यक्त किया गया है मानो सब कुछ स्वामी रामदास के उपदेश देने की भूमिका है। सच पूछिए तो शिवाजी के संपूर्ण व्यक्ति को एक विशेष परिधि में ही देखा गया है। शिवाजी के शब्दों में वह परिधि है—'भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अन्त करना, राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की क्रांति करना।' छत्रसाल के जीवन का लक्ष्य भी उससे भिन्न नहीं है—'संपूर्ण भारत की स्वाधीनता मेरे जीवन का स्वप्न होगा किन्तु बुन्देलखंड के अपमान का प्रतिशोध दिल्लीपति से लेना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है।'

पुरुष पात्रों के समान ही प्रेमी के नारी पात्र—कर्मवती, जीजा-बाई, लालकुँवरि आदि–सच्चे अर्थ में देशभक्त और सच्चरित्र देवियाँ हैं। लेकिन विशेष प्रकार के साँचे में ढलने के कारण वे टाइप हो गई हैं। इसलिए इनके व्यक्तित्व भी सरस नहीं बन पाए हैं।

प्रेमी के संवाद प्रसाद के संवादों की अपेक्षा अधिक गठे हुए और अलंकृति के लदाव से मुक्त हैं, भाषा पात्रों के अनुसार रखी गई है। हिन्दू पात्र संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करते हैं और मुसलमान पात्र फ़ारसी-बहुल हिन्दी का। इससे पात्रों के संभाषण में स्वाभाविकता और निजी रंग आ जाता है। पर इन संवादों की सबसे अधिक अखरने वाली बात है इनकी नीरसता। वर्णन-विवरण

अथवा उपदेश-प्रधान कथोपकथन में रसहीनता का आ जाना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि राजनीतिक रंगमंच से नेताओं के भाषण हो रहे हैं।

जहाँ तक वस्तु-योजना का सम्बन्ध है उनके नाटक प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा शृंखलाबद्ध, गतिशील और रंगमचोपयुक्त हैं। रक्षाबन्धन के तीनों अंक—प्रेमी के नाटकों में प्रायः तीन ही अंक हैं—एक दूसरे से कारण-कार्य के रूप में जुड़े हुए हैं। शरणागत की रक्षा इस नाटक का केन्द्र-बिन्दु है। इसकी त्रिसूत्री कथाएँ, उक्त केन्द्रीय बिंदु से संबद्ध होने के कारण, सहज भाव से एकसूत्रता में पिरो उठी हैं। धन्यदास का प्रसंग यद्यपि नाटकीय कथा-वस्तु का अनिवार्य अंग नहीं हो पाया है फिर भी उसे किसी प्रकार से मुख्य कथा-वस्तु से जोड़ लिया गया है। 'शिवा-साधना' 'रक्षाबंधन' की तरह चुस्त और प्रभावोत्पादक नहीं है। यह ऐतिहासिक नाटक न होकर बहुत कुछ इतिहास-नाटक हो गया है। अंकों में सुसंबद्धता होते हुए भी विवरण-वर्णन प्रधान दृश्यों के कारण नाटकीय गति अवरुद्ध हो जाती है। 'प्रतिशोध' में एक दूसरी त्रुटि है। इसमें दो पीढ़ियों की कथाएँ ली गई हैं जो नाटक की अपेक्षा उपन्यास की विस्तृति के अधिक अनुकूल हैं। पहले अंक की कथा को छत्रसाल की कथा में ही अन्तर्भुक्त किया जा सकता था। लेकिन ऐतिहासिक तथ्यों के फेर में पड़ कर लेखक चंपतराय की कहानी के लिए एक पूरा अंक व्यय कर देता है। प्रथम अंक में लगभग चार पृष्ठों तक चलने वाली हरदौल की कहानी कथा की गति में बाधा डालती है। इन त्रुटियों के बावजूद भी प्रेमी के नाटक नाटकीय कला की दृष्टि से प्रसाद के आगे हैं।

प्रेमी के नाटक जहाँ बाह्योपचार में प्रसाद से आगे दिखाई पड़ते हैं वहाँ अतंरंग के चित्रण में उनसे कई कदम पीछे। कलागत परिष्कृति साधना और जागरूकता (कांससनेस) की माँग करती है।

फिर प्रेमी के सम्मुख प्रसाद की कलागत त्रुटियाँ प्रत्यक्ष थीं, इसलिए चेष्टा पूर्वक उन त्रुटियों का परिहार किया जा सकता था। स्वभावतः रोमैंटिक होने के कारण प्रसाद ने कला के प्रति उतनी चिंता नहीं की। पर अंतरंग का चित्रण साहित्यकार की वैयक्तिक प्रतिभा, भावानुभूति-प्रवणता और जीवन के भीतर बैठने की अद्भुत क्षमता पर निर्भर है। प्रसाद में ये सारी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उनके अपने स्वतंत्र जीवन-दर्शन ने भी अंतरंग के प्रभावपूर्ण और सूक्ष्म चित्रण में उनकी सहायता की। एक विशेष राजनीतिक चेतना से बंध जाने के कारण प्रेमी जीवन को समग्रता में नहीं अंकित कर सके।

उपर्युक्त प्रश्न की विवेचना के लिए गांधी जी की आत्मोपलब्धि तथा उसके प्रभाव पर भी विचार कर लेना चाहिए। जिस अतः साधना, सत्य-अहिंसा और हृदय-परिवर्तन के उदात्त आदर्शों को गांधी जी ने अपने व्यक्तिगत जीवन में ढाला उनको देश के कितने लोगों ने आत्मसात किया? बाहर-बाहर से लोगों ने उन्हें अपनाया पर वे देश के रक्त के साथ घुलमिल न सके। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि गांधीवादी आदर्शों पर निर्मित साहित्य में प्राणों का सहज उच्छ्वास अभिव्यक्ति नहीं पा सका। इस तरह की कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि में हृदय को उड़ेल देने वाली बेचैनी, प्राणों को उत्सर्ग कर देने वाला व्याकुल आग्रह नहीं है। प्रेमी के नाटकों में अनेक गाधीवादी आदर्शों को वाणी मिली है, किंतु वे बहुत कुछ सैद्धान्तिक सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं। बाह्योपचारों को युगानुरूप उन्होंने भी अपनाया है पर प्राणों को विमंथित कर देने वाली यह शक्ति जो उनको भी वैसे ही नहीं प्राप्त हो सकी जैसे देश के हृदय को स्पर्श कर देने वाली गांधी जी की शक्ति उनके अनुयायियों में नहीं आ सकी।

सेठ गोविंददास का 'शेरशाह' प्रेमी के नाटकों के मेल में है। इसमें भी हिन्दू-मुस्लिम-एकता और मुसलमानों की राष्ट्रीय चेतना

का अंकन हुआ है। शेरशाह का कहना है—'...मैं चाहता हूँ इस मुल्क में हिन्दू-मुसलमान दोनों मिलकर इस बाहरी कौम' का मुकाबला करें।...फिर यह काम यहाँ के सुलतानों और राजाओं पर ही न छोड़ा जाय, बल्कि यहाँ की आम रियाया को भी इस काम में शामिल किया जाय।...' इस कथन में ब्रिटिश राज्य से लोहा लेने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता की पुकार है।

इस देश में ऐसे मुसलमान भी पाए जाते हैं जो अपरदेशीय भक्ति (एक्स्ट्रा टेरीटोरियल लायल्टी) के कायल हैं। उनके सामने शेरशाह का यह आदर्श रखा गया है—'मैं हूँ हिन्दी, इसी मुल्क में पैदा हुआ, यहीं की आबोहवा में पला यहीं की मिट्टी से बना और इसी मिट्टी में मिलूँगा। यहाँ से बाहर देखने के लिए मेरे पास कुछ नहीं। हिन्दुस्तान ही मेरे लिए सब कुछ है। यहाँ के रहने वाले चाहे वह किसी भी मजहबी मिल्लत के हों मेरे भाई बिरादर हैं।'

इसमें दो कथानक हैं—एक शेरशाह के राज्य निर्माण का और दूसरा निजाम और लाडबानू के प्रेम का। पर दोनों की राहें अलग हैं। दूसरी प्रासंगिक कथानक किसी भी तरह आधिकारिक कथा को गति नहीं देती और अंत तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती है। संविधानक सौष्ठव की दृष्टि से यह इस नाटक का एक बड़ा दोष है।

प्रेमी के पात्रों की भाँति शेरशाह भी एक विशेष आदर्श को लेकर चलता है। वह अत्यन्त कर्त्तव्य-निष्ठ और धुन का पक्का है। पर इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। निजाम और बानू के प्रेम का आधार भावुकतापूर्ण और अगंभीर है। इसी का परिणाम है कि एक फकीर हो जाता है और दूसरा पागल। जीवन के प्रति इस प्रकार का निषेधात्मक दृष्टिकोण सस्ते प्रेम का ही द्योतक है। बानू के विवाह ने—उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह ने—एक समस्या अवश्य उत्पन्न की है। वह कहती है—'ऐ खुदा! खुदगर्जों ने मेरे जिस्म का

सौदा बिना मेरी मर्जी के किया।* लेकिन यह समस्या अपने में ही टूट कर रह गई है। मुख्य नाटक का अंग न बनने का परिणाम यही होता है।

'कुलीनता' सेठ जी का दूसरा ऐतिहासिक राष्ट्रीय नाटक है। यद्यपि इसमें कुलीनता पर अकुलीनता की विजय दिखाई गई है तथापि देशोद्धार का स्वर इसमें आद्यन्त छाया हुआ है। यह गांधी-युग में परिवर्तित नए मूल्यों से अनुप्राणित है। गांधी जी ने वर्ण-भेद की जिस खाईं को पाटने का प्रयास किया वह केवल स्पृश्य-अस्पृश्य की मोटी समस्या तक ही नहीं सीमित थी गाधी जी की पैनी दृष्टि स्थूल समस्याओ को पार कर उनके तल का स्पर्श करती थी। वे वर्ण की श्रेष्ठता के विश्वासी न होकर कर्म की श्रेष्ठता के विश्वासी थे। वे सच्चे कर्मयोगी थे। इस नाटक में कर्म की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया गया है।

नाटक के अन्तर-पृष्ठ पर वेणीसंहार का यह श्लोक छपा है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्

कुलीनता नाटक की यही मुख्य समस्या है। बीसवीं शती में नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में मानवता का नया मूल्यांकन होने लगा। जाति, वंश और कुल के मिथ्या गौरव की अंध-गुहा से निकल कर मनुष्य ने कर्म-सौन्दर्य की उषः किरणों का प्रकाश देखा। आज उसी कर्म-सौन्दर्य को मानवीय श्रेष्ठता का मान ठहराया जा रहा है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर कर्ण को कई काव्यो में नए सिरे से देखा गया। दिनकर के 'रश्मिरथी' का कर्ण कहता है—

वह करतब है यह कि शूर जो चाहे, कर सकता है।
नियति भाल पर पुरुष पाँव निजबल से धर सकता है॥
वह करतब है यह कि शक्ति बसती न वंश या कुल में।
बसती है वह सदा वीर पुरुषों के वक्ष पृथुल में॥

कुलीनता के 'यदुराय' के विषय में भी रश्मिरथी के कर्ण का कथन अक्षरशः सत्य है। यदुराय को अकुलीन मान कर जिन कुलीन कलचुरियों ने निर्वासित किया उन्हीं को उसके सामने मुँह की खानी पड़ी। 'कुलीनता' की इस समस्या को राष्ट्रोद्धार की समस्या से इस तरह बाँध दिया गया है कि दोनों एक दूसरे से पूर्णतः समन्वित हो गई हैं। इसके साथ ही यदुराय और कलचुरि कुमारी रेवा का विवाह रूढ़ियों पर जबरदस्त प्रहार है।

इसका कथानक स्वच्छ और गतिशील है। पात्रों के चरित्र में सर्वत्र ऋजुता और स्पष्टता है। रंगमंच और सिनेमा—दोनों के लिए यह समान रूप से उपयुक्त है।

उदयशंकर भट्ट का 'दाहर या सिंधपतन' नाटकों के इसी वर्ग में आएगा। यह कथानक, चरित्र, संवाद आदि दृष्टियों से बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। भट्ट जी के 'विक्रमादित्य' और 'दाहर' दोनों में प्रसाद के नाटकों की प्रायः सभी त्रुटियाँ एकत्र हो गई हैं।

मिलिन्द के 'प्रताप-प्रतिज्ञा' [१६२६] और अश्क 'के जय-पराजय' [१६३७] में राष्ट्रीयता का रंग दिखाई पड़ेगा—एक में वह प्रत्यक्ष है तो दूसरे में प्रच्छन्न। 'प्रताप' पराधीन देश की आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। उनके कार्य और वाणी में तेज और जीवन है तो शैथिल्य और निराशा भी है। ब्रिटिश साम्राज्य से जूझते हुए देश की मनोवृत्ति कुछ-कुछ उसी प्रकार की हो गई थी। अपने जीवन के अंतिम काल में राणा ने कहा था—'इस जीवन की अब कोई सार्थकता नहीं। केवल एक लंबा-चौड़ा, सूखा और सूना बालुका-प्रदेश हृदय में ज्वालामयी हिलोरें लेता-सा प्रतीत होता है। कोई आशा नहीं! कोई भरोसा नहीं।' प्राण-विसर्जित करते समय जो आशा उन्होंने प्रकट की है वह भरत वाक्य है। स्वतंत्रता संग्राम की जनता की प्रतिध्वनि भी नाटक में सुनाई पड़ेगी। टेकनीक की दृष्टि से नौरोज

की घटना, पृथ्वीराज और गंगा की वार्ता मुख्यकथा का अंग नहीं हो पाई है

'जय-पराजय' में लेखक के मन का जो अवसाद व्यक्त हुआ है वह देश के अवसाद से अद्भुत मेल रखता है। लेखक ने जीवन की उदासीनता को भूल जाने के लिए इस नाटक को लिखना आरंभ किया—'यही सोचकर उठा, चाहा कि इस उदासीनता को झटक दूँ। ऐसा न कर सका तो इसे किसी दूसरी ओर लगाने का ही निश्चय किया। 'जय-पराजय' मेरे उसी प्रयास का फल है।'

साफ है कि लेखक ने किसी उद्देश्य विशेष के प्रतिपादन के लिए इसे नहीं लिखा है। यही कारण है ऐतिहासिक राष्ट्रीय नाटकों में जो राष्ट्रीयता उभर कर चित्रित हुई है वह इसमें नहीं दिखाई देती। इसका शुभ परिणाम यह हुआ है कि इसमें किसी विशेष चिन्ता-धारा की ठूँस-ठाँस के लिए अवकाश ही नहीं रह गया। फिर भी जिस फलक पर राजपूतीशान, हठधर्मी, स्वाभिमान, वंश-मर्यादा, गृह-कलह, अन्तःपुर में चलने वाले निर्मम षड्यन्त्र का चित्रण हुआ है वह अप्रत्यक्ष रूप से पाठकों के मन में राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करता है। नाटक के प्रधान पात्र राणा लक्षसिंह, चंड, राघव देव, रणमल-सब के सब जय-पराजय की भावना से ओत-प्रोत हैं।

इस नाटक का केन्द्र-बिंदु मेवाड़ है और मेवाड़ की कथा आधिकारिक कथा है। मंडोवर की कहानी, जो प्रासंगिक कथा के रूप में आई है, मुख्य कथावस्तु से क्षीर-नीर की भाँति मिल गई है। संपूर्ण नाटक पाँच अंकों में से बाँटा गया है, जिनमें घटनाएँ एक दूसरे से कारण-कार्य या क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में जुड़ी हुई हैं। इसका फल यह हुआ है कि नाटक स्वाभाविक रूप से गतिशील हो उठा है। फिर भी कुछ ऐसे दृश्यों का भी समावेश हुआ है जो नाटक की गति में बाधक नहीं हैं तो साधक भी नहीं कहे जा सकते। नाटक के प्रथम परिचयात्मक अंक की ऐसी अनिवार्यता नहीं प्रतीत होती, उसे संक्षेप

में प्रोलॉग के रूप में दिया जा सकता था। तृतीय अंक का पहला दृश्य जिसमें विवाहोत्सव में गठरी सँभाले हुए ब्राह्मणों का चित्रण है, हटाया जा सकता है। चौथे अंक के पहले दृश्य की भी कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती।

इस नाटक का मुख्य पात्र चंड टिपिकल राजपूत है। वह अद्भुत योद्धा, बात का धनी और दृढ़ प्रतिज्ञ है। मध्यकालीन राजपूती शौर्य, पराक्रम, आत्माभिमान उसकी नस नस में कूट-कूट कर भरा है। यही कारण है कि जहाँ भी उसके आत्म-सम्मान को धक्का लगा कि वह अपना धैर्य और कुछ हद तक विवेक खो बैठता है। उसकी इस कमजोरी का भरपूर लाभ रणमल ने उठाया भी। राघवदेव उतना राजपूत नहीं है जितना सामान्य मनुष्य—जय-पराजय के अंतर्द्वंद्वों से संयुक्त। हंसाबाई जीवंत नारी है। लेकिन रणमल के निधन पर उसका रुदन और अनुताप पूर्ववर्ती घटनाओं की भूमिका पर बहुत औचित्य पूर्ण और मनोवैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता। भारमली को डा० नगेन्द्र ने देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी माना है। लेकिन देवासेना के त्याग, दीर्घकालीन अनुताप-वेदना, अन्तर्दाह की जलन के लिए भारमली को पर्याप्त अवसर ही कहाँ मिला! मालविका के मूक बलिदान में जो वेदना पुंजीभूत हुई है वह भारमली के बलिदान में नहीं दिखाई देती। फिर भी भारमली जी को बुरी तरह कचोट लेती है।

नाटक का अंत अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है, चंड के प्रस्थान के कारण जो करुण वातावरण निर्मित होता है उसकी छाया गहन से गहनतर होती जाती है।

गोविन्द बल्लभ पंत का राजमुकट, जमुनादास मेहरा का पंजाब-केसरी, रूपनारायण पांडेय का मारवाड़-गौरव आदि ऐतिहासिक राष्ट्रीय नाटक हैं।

ऐतिहासिक-राष्ट्रीय—स्वतंत्रता के बाद

स्वतंत्रता के पूर्व जो ऐतिहासिक राष्ट्रीय नाटक लिखे गए उनका मुख्य उद्देश्य था देश में राष्ट्रीय चेतना को उद्‌बुद्ध करना। वे राष्ट्रीय आन्दोलन को अतीत की पीठिका पर मुखर कर रहे थे। देश के स्वतंत्र हो जाने पर नई समस्याएँ उत्पन्न हुई और इनके प्रकाश में ऐतिहासिक नाटकों ने नया रूप ग्रहण किया। अब इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य हुआ जनता में स्वराष्ट्र-रक्षा की भावना भरना तथा देश को पतन के गर्त में ढकेलने वाले उपकरणों के प्रति हमें सचेत करना।

इन नाटकों की दूसरी प्रवृत्ति में जन-संघटन पर बल देना। स्वतन्त्रता के पूर्व लिखित ऐतिहासिक नाटकों में भी इसे स्थान दिया गया है पर इस काल के नाटकों में जन-संघटन की चेतना को विशेष रूप से समाविष्ट किया गया है। राज-तंत्र के टूट जाने पर देश का भविष्य एकान्त रूप से जागरूक जनता पर ही निर्भर करता है।

नाटकों के नायकों को सच्चे अर्थ में जनता का सेवक सिद्ध किया गया है। राजकुमार होते हुए भी उन्हें ऐसी परिस्थितियों में ढाला गया है कि वे जनता के सेवक के रूप में चित्रित हो सकें। 'उद्धार' के हम्मीर, 'कीर्तिस्तंभ' के संग्राम सिंह, 'शपथ' और 'समाधि' के जनेन्द्र ऐसे ही नायक हैं।

इनके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के बाद उत्पन्न होने वाली कुछ अन्य समस्याओं को भी संनिविष्ट करने का प्रयत्न नाटककारों ने किया है, जैसे वेश्या-जीवन की समस्या, अत्याचार के फलस्वरूप अन्तःसत्वा स्त्रियों की समस्या आदि। किंतु ये समस्याएँ स्वतंत्रता प्राप्ति के

बाद की ज्वलंत समस्याएँ नहीं। इन समस्याओं को ग्रहण करने में लेखकों की दृष्टि बहुत कुछ अखबारी समस्याओं तक ही सीमित हो गई है।

स्वतंत्रता के बाद लिखे गए ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटककारों में प्रेमी का स्थान अप्रतिम है। उनके 'उद्धार' 'शपथ' और 'कीर्तिस्तंभ' ऐसे ही नाटक हैं। विष्णुप्रभाकर के 'समाधि' और जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' को भी इसी श्रेणी में रखा जायगा।

'शपथ' की भूमिका में प्रेमी ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"हमें देश के इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए। इतिहास के अध्ययन का अर्थ तिथियों-घटनाओं को याद कर लेना भर नहीं है। इतिहास तो हमें बताता है कि हमें क्या करना चाहिए क्या नहीं, किस तरफ जाने में पतन है—किधर जाने में उत्थान, कहाँ मरण है—कहाँ जीवन।' इस उद्देश्य को सामने रखने से इन नाटकों में राष्ट्रीयता का स्वर थोड़ा-बहुत मंद पड़ गया है। इसके परिणामस्वरूप नाटककार की दृष्टि कुछ गंभीरतर समस्याओं की ओर भी गई है और नाटक में अपेक्षाकृत अधिक संयम आ गया है।

प्रेमी के 'शपथ' और विष्णु प्रभाकर की 'समाधि' की कथा-वस्तु प्रायः एक ही है। पहले का नायक विष्णुवर्धन है तो दूसरे का यशोवर्धन—दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दोनों में ही जनता के बल पर हूणों का उच्छेद किया गया है। दोनों नाटकों में एक पक्ष राष्ट्र-प्रेमियों का है और दूसरा विदेशियों तथा उनके सहयोगी देश-द्रोहियों का। यह सब होते हुए भी जहाँ तक वस्तुसंघटन का प्रश्न है प्रेमी की सजगता और चुस्ती समाधि में नहीं पाई जाती। विष्णु ने नाटक के भीतर नाटक रखकर कथा को नीरस और अगतिशील बना दिया है। इनकी ऐतिहासिक चेतना भी बहुत जागरूक नहीं

दिखाई पड़ती। भानुगुप्त का शिविर को 'कैंप' कहना इसी का द्योतक है

शपथ की दूसरी विशेषता यह है कि इसके पात्र अनेक वर्गों से चुने गए हैं। राष्ट्र की रक्षा के लिए कवि, नर्तकी, नाविक आदि सभी योग देते हैं। विष्णु वर्धन ने एक स्थान पर कहा है—'किन्तु हमारा मुक्ति-संग्राम भूपालों के सहयोग पर अवलंबित नहीं होगा। निस्संदेह सुहासिनी, भूपालों की वेतन भोगी सेना हूणों की दुर्धर बर्बरता की आँधी के सामने नहीं टिकेगी...। आवश्यकता है जनता में निर्भयता, आत्मविश्वास समूह-बल पर आस्था और देश के प्रति कर्त्तव्य-भावना को जाग्रत कर प्रत्येक आबाल वृद्ध नर-नारी को मुक्ति-सेना का सैनिक बनाने की।' इसी को लक्ष्य में रख कर पात्रों का चुनाव भी किया गया है। प्रसाद के नाटकों की तरह यहाँ भी प्रेयसियाँ हैं पर इनमें वह उन्मदष्णु राग, गहरी वेदना और आन्तरिक मन्थन नहीं है। फिर भी 'समाधि' की अपेक्षा 'शपथ' में रागात्मक तत्व को अधिकता मिलेगी। 'समाधि' राजनीतिक अधिक हो गया है।

उद्धार का नायक हम्मीर भी जनता के अधिक निकट है। उसका लालन-पालन मेवाड़ के राजकीय वैभव से दूर प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में हुआ है। इसी से वह जनता का और जनता उसकी बन सकी! उसकी माँ सुधीरा कहती है—'राजकुमारत्व का मान हमीर में उच्चता की भावना भर देता और उसे प्रत्येक देहाती स्त्री-पुरुष को आत्मीय मानना कठिन हो जाता। वह राजकुमार होकर बाल-बंधुओं का सम्राट न बन पाता।' इस नाटक में दो पीढ़ियों की कथाएँ ली गई हैं, पर लेखक ने बड़े ही कौशल से दोनों को सुसंबद्ध कर दिया है। व्यापारान्विति और गतिशीलता की दृष्टि से यह प्रेमी का एक सफल नाटक है।

इस नाटक में देश-भक्ति की चर्चा गंभीर रूप में उठाई गई

है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता के स्थान पर मानव-मानव की समता का व्यापक सिद्धान्त उपस्थित किया गया है। दुर्गा का कहना है—'हमें किसी व्यक्ति, देश या संस्कृति के विरुद्ध भावना नहीं भरनी चाहिए। हमारा विरोध केवल उसी विदेशी शासन-तन्त्र से होगा, जो हमें दास बना कर रखना चाहता है। मनुष्य के नाते प्रत्येक मानव हमारा बंधु होगा।'

'कीर्तिस्तंभ' में उन तत्त्वों को उभारा गया है जो देश की स्वतंत्रता में सहायक हुए हैं। राजयोगी ने नाटक के अन्त में कहा है—'स्वार्थ, अभिमान और क्रोध में आकर कभी जन्मभूमि के हित को मत भूलो। सत्ता और सम्मान पाने के लिए प्रतिस्पर्धा की भूल मत करो। देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझो।' यही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है।

स्वार्थ, अभिमान और क्रोध में आकर ज्वाला देश के हित को भूल गई। क्षणिक लाभ के लिए उसका भाई सूरजमल विदेशियों से जा मिला। सत्ता और सम्मान पाने के लिए पृथ्वीराज मातृभूमि के हित को न याद कर सका। देश के हित को सर्वोपरि समझा संग्राह सिंह और राजयोगी ने।

उद्देश्य विशेष के पूर्त्यर्थ संग्रामसिंह का चरित्र 'टाइप' चरित्र हो गया है। राष्ट्रीयता और मातृभूमि के हित को दृष्टि में रखकर उनका जो चरित्र अंकित किया गया है वह उनके राजपूती व्यक्तित्व पर बुरी तरह हावी हो गया है। आगे चलकर राजयोगी ने उनके व्यक्तित्व को और भी अधिक दबा दिया है। फलस्वरूप वे बहुत कुछ निष्क्रिय प्रतीत होने लगते हैं। पृथ्वीराज अपनी उच्छृंखलताओं में राजपूतों की समस्त विशेषताओं और त्रुटियों से अभिमंडित अच्छा बन पड़ा है। ज्वाला प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति को मूर्त करती है, पर तारा में राजपूती गौरव के साथ विवेक और संयम भी है, किन्तु उसकी प्रेमिका की भूमिका अविकसित रह गई है। पृथ्वीराज के उठ

जाने पर भी उसके मानसिक द्वंद्व को चित्रित न करके एक प्रभाव-शाली नाटकीय स्थिति (सिचुवेशन) को खो दिया गया है।

कथानक, संविधान सौष्ठव की दृष्टि से यह प्रेमी के परवर्ती नाटकों से कहीं आगे है।

इस सिलसिले में उदयशंकर भट्ट के 'शक विजय' का उल्लेख करना आवश्यक है। उसका भी लक्ष्य है—'आज देश धर्म से भी महान है, व्यक्ति और समाज से भी बृहत्तर है। इस भावना को जागृत करने की आवश्यकता है; देश की स्वतंत्रता उसका सुख सर्वो-परि है; इस प्रकार के विचारों के प्रचार में जो मानसिक असंतुलन उत्पन्न होते हैं उनमें हमें किसको स्वीकार करना चाहिए और किसको अस्वीकार इत्यादि बातों को पाठकों तथा सर्वसाधारण के सामने रखने के हेतु-स्वरूप मेरा यह क्षुद्र प्रयत्न है।' इस नाटक में जैन गुरु कालकाचार्य के देशद्रोही कार्य को केन्द्र-विन्दु माना गया है। इसी विषय पर वृन्दावनलाल वर्मा ने भी 'हंस मयूर' नाटक लिखा है। पर मुख्यतः सांस्कृतिक होने के कारण उसकी चर्चा ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों के भीतर की जायगी।

इस नाटक का गंधर्व सेन (वर्मा जी का गर्धभिल्ल) है पर वह गर्धभिल्ल के विपरीत परम आचरणवान है। इसका वास्तविक नायक वरद् देशोद्धार में आद्यन्त संलग्न है। वह वर्मा जी के इन्द्र देव की भाँति किसी तन्वी के नाच-रंग में नहीं उलझा है। इसका मंखलिपुत्र वर्माजी के पुरंदर की अपेक्षा अधिक गम्भीर और प्रेरणा-दायक है। पर इस नाटक के अधिकांश पात्रों पर देश भक्ति का रङ्ग इतना गहरा चढ़ा हुआ है कि उनकी वैयक्तिकता लुप्त प्राय हो गई है।

वस्तु-योजना की दृष्टि से 'शक विजय' भट्टजी के अन्य नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा कहा जा सकता है। चार अंकों में बँटे हुए नाटक की घटनाओं में कार्य-कारण-संबंध-स्थापन भट्टजी की

स्वच्छ दृष्टि का द्योतक है। इसके संवाद छोटे, मार्मिक और प्रसंगोचित हैं। 'विक्रमादित्य' और 'दाहर' की आलंकारिक शैली और अरंगमंचोपयुक्तता से मुक्त होने के कारण यह नाटककार के विकास का अगला कदम कहा जा सकता है।

सेठ गोविन्ददास का 'शशि गुप्त' अतीत की कथा के सहारे राष्ट्रीय भावना और एक केन्द्रीय शासन की व्यवस्था को ही व्यक्त करता है।

जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' इसी श्रेणी का नाटक है। इसमें जनता की उस शक्ति को उभारा गया है जो राज्यों की भाग्य-विधायिका है, जिसके इंगित पर सम्राटों का भाग्य बनता और बिगड़ता है। धर्मपद शैवालिक से कहता है—'क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं जो चाहे जिसके हवाले कर दी जाँय।...जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाडोल कर रहे हो वह हमारे कंधों पर टिका है।...'

इस युगीन सत्य पर बल देने पर भी नाटक का सांस्कृतिक पक्ष दुर्बल नहीं हुआ। लेखक ने बड़े ही कौशल से दोनों में सामंजस्य स्थापित कर दिया है। प्राचीन भारतीय शिल्प साधना और उसके महिमान्वित पक्ष को स्पष्ट करने में भी कोई कोर कसर नहीं रखी गई है।

शिल्पी विशु और धर्मपद दोनों दो युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विशु कोरी शिल्प-साधना का विश्वासी है। इसी लिए वह नरसिंह देव से कहता है—'यही तो मैं इसे समझा रहा था, देव। शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिए अनधिकार चेष्टा होगी।' पर धर्मपद की वाणी में आज का युग बोल रहा है—हजारों लाखों पीड़ित, उपेक्षित और मूक जनता का दर्द मुखर हो रहा है। पहला पिता है और दूसरा पुत्र। एक की धमनियों में पुराने जमाने का ठंडा खून है तो दूसरे की धमनियों में नए युग का खौलता हुआ रक्त। इन दोनों का जो नाटकीय संबंध स्थापन हुआ है वह मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ रोमैंटिक पृष्ठभूमि से अनुरंजित है।

फ्रायडीय मनोविज्ञान के अनुसार कोणार्क उसके प्रेम का उदात्ती-करण (सब्लीमेशन) है। इस प्रकार की प्रथम कोटि की कृतियों के पीछे इस तरह की प्रबल प्रेरणाओं का होना परम स्वाभाविक है। इतिहास में इसके साक्ष्य के रूप में सैकड़ों प्रमाण भरे पड़े हैं। कोणार्क (नाटककार की दृष्टि में) प्रणायिनी की स्मृति में ही निर्मित हुआ और उसी की स्मृति में ध्वंस भी हुआ। पर यहीं पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कलाकार का अन्तर्दहन स्वयं कला का अंत कर देता है? क्या वैयक्तिक राग-द्वेष और कौटुंबिक प्रणय-स्नेह कलात्मक निर्मिति का गला घोंट सकता है? क्या अपनी निर्मिति के प्रति कलाकार का ममत्व पुत्र-प्रेम की समकक्षता नहीं कर सकता? इन प्रश्नों को दृष्टि में रखते हुए विशु के चरित्र और नाटक के अंत पर पुनर्विचार करना होगा क्योंकि इनसे उनकी समीचीनता पर प्रश्न वाचक चिन्ह लग जाता है। कोणार्क के ध्वंस के मूल में नाटककार का यह कहना है कि 'मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है कोणार्क के खंडन के क्षण में फूट निकला हो।' कहना न होगा कि इस दृष्टिकोण विशेष ने ही ऊपर की असंगति का सृजन भी किया है।

नाटकीय टेकनीक और अभिनेयता की दृष्टि से कोणार्क एक सफल नाटक है। नाटक के तीनों अंक परस्पर पूर्ण रूप से संबद्ध हैं। एक अंक अपने परवर्ती अंक को गतिशील बनाने में सक्षम है। यह संबद्धता कुछ इस ढंग से नियोजित की गई है कि नाटक की प्रभाव-शीलता क्रमशः बढ़ती जाती है और अभिनय के अंत में यह अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। उपक्रम और उपसंहार के कारण नाटक को और भी अधिक चारुता प्राप्त हो गई है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसे अभिनेय बनाने में इसकी साहित्यिकता को क्षति नहीं पहुँची है।

ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटक

संस्कृति का संबंध अंतःकरण की उदात्त वृत्तियों से होता है। सत्य, अहिंसा, त्याग, क्षमा, तपश्चर्या आदि भारतीय संस्कृति के उपकरण रहे हैं। इनके आधार पर निर्मित आचार-विचार की परंपरा ही भारतीय संस्कृति है। अनेक कारणों और परिस्थितियों से हमारी संस्कृति के अवांतर भेद भी हुए पर उसकी मूलवर्तिनी धारा सर्वत्र समान रूप से प्रवहमान होती रही है। जब कभी किसी एक तत्त्व का अतिरेक हुआ है तब तब सांस्कृतिक महापुरुषों ने समन्वय की चेष्टा की है। यह 'समन्वय' भी हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग हो गया। यहाँ पर परस्पर विरोधी साधनाओं, आचार-विचारों और दार्शनिक मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने की बराबर चेष्टा होती रही है। यही कारण है कि बाहर से आई हुई अनेकानेक जातियाँ हमारी संस्कृति में मिलकर हमसे अभिन्न हो गईं।

भारत के बाहर के देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार भी कम नहीं हुआ है। पर इस प्रसार में सेमेटिक जातियों की तरह तलवार और अमानुषिक बर्बरता का सहारा नहीं लिया गया बल्कि सद्‌भाव और प्रेम-भावना के सहारे यह सुदूर पूर्ववर्ती देशों तक पहुँचाई गई।

यह सच है कि संस्कृति अपेक्षाकृत स्थिर वस्तु है पर कालानुरूप इसमें अपेक्षित परिवर्तन भी आवश्यक है। अन्यथा तालाब के बँधे जल की भाँति यह भी गन्दी और सँड़ाधपूर्ण हो जायगी। इसीलिए संस्कृतियों का आदान-प्रदान इसके विकास के लिए बहुत आवश्यक माना जाता है। महात्मा गांधी ने संस्कृति के इन सभी तत्त्वों को पुनर्जीवित किया।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा के कतिपय सांस्कृतिक नाटकों में संस्कृति के उपयुक्त स्वरूप को देखा जा सकता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इधर कई सांस्कृतिक नाटक लिखे हैं, इसलिए उनके नाटकों का विवेचन एक साथ ही अलग से किया जायगा।

चन्द्रगुप्त की 'रेवा' में एकपक्ष पशुबल से संस्कृति का प्रचार करना चाहता है दूसरा अपनी सांस्कृतिक उच्चता के दंभ में दूसरी संस्कृति को हेय समझकर कूप-मंडूक बने रहने में ही श्रेष्ठता का अनुभव करता है। इन दोनों सांस्कृतिक अतियों का संघर्ष ही रेवा का प्रतिपाद्य है। उग्र के ईसा में धैर्य, आत्म-दमन और अहिंसा को ही अत्याचार के शमन का सर्वोत्तम साधन माना गया है। सेठ जी के 'हर्ष' में हृदय-परिवर्तन की जो चर्चा उठाई गई है वह गाँधी जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है। सियारामशरण जी के 'पुण्य पर्व' में अंततोगत्वा देवता की विजय दिखाई गई है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने इधर दो सांस्कृतिक नाटक लिखे हैं—हंसमयूर और पूर्व की ओर। 'हंसमयूर' में आर्य संस्कृति के समन्वयात्मक पक्ष को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। 'हंस-मयूर-ध्वज' का विश्लेषण करते हुए एक पात्र कहता है—'हंस, बुद्धि-विवेक, प्रज्ञा, मेधा, भक्ति और संस्कृति का प्रतीक है; मयूर तेज, बल और पराक्रम का। दोनों का समन्वय ही आर्य संस्कृति है। जीवन और परलोक—दोनों की प्राप्ति का एकमात्र साधन।'

आंशिक रूप में यह समन्वय इन्द्रसेन में अवश्य दिखाई पड़ता है, पर इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार का हंस-मयूरी ध्वज किसी समय था भी ?

इसके प्रधान नायक इन्द्रसेन को नाटककार ने उचित व्यक्तित्व नहीं प्रदान किया है। वह तन्वी के नाच-गान के सांस्कृतिक आयोजन में ऐसा व्यस्त सा मालूम पड़ता है कि बृहत्तर योजनाओं

में संलग्न ही नहीं हो पाया है। कहना न होगा कि इस नाटक से संस्कृति का स्वरूप बहुत कुछ अस्पष्ट रह गया है।

'पूर्व की ओर' में सुदूर पूर्व में आर्य-संस्कृति के प्रसार का चित्र खींचा गया है। अतीत में भारतवासियों को केवल समुद्र यात्रा का ज्ञान ही नहीं था प्रत्युत वे साहस पूर्वक समुद्री यात्राएँ भी करते थे। पल्लववंशीय राजकुमार इसी उद्देश्य से पूर्वी समुद्रों की यात्रा करता है। पर नाटकीय टेक्नीक में इस विषय को उचित रीति से बाँधा नहीं जा सका है। इसमें नाटकीय चुस्ती के स्थान पर औपान्यासिक फैलाव अधिक है। इसीलिए कई ऐसे प्रसंगों और वार्ताओं का भी संनिवेश हो गया है जो नाटक की अपेक्षा उपन्यास के अधिक अनुकूल हैं। नाटक के तीसरे अंक में धारा और तुंबी के युद्ध का आयोजन, उस द्वीप की रीति-नीति को विस्तार देने के उद्देश्य से ही किया गया है। यह विस्तृति उपन्यास के अधिक अनुकूल है। कथा की गतिशीलता में जो मंथरता रही है वह भी लेखक के औपन्यासिक दृष्टिकोण का द्योतक है।

कथोपकथन की दृष्टि से भी नाटक अत्यंत शिथिल है, वे कथा-प्रवाह को गति प्रदान करने में अत्यधिक पंगु हैं। नाटकीय स्थितियों से प्रभाव में अधिकांश कथोपकथन इतिवृत्तात्मक हो गए हैं। कथोपकथनों की वर्णनात्मकता उनके नाटककार पर उपन्यास-कार के हावी हो जाने की सूचना देती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी इस नाटक की श्रेष्ठता सर्वथा संदिग्ध है। अश्वतुंग इसका प्रधान चरित्र है, पर उसके चरित्र-परिवर्तन के मूल में कोई ऐसी परिस्थिति नहीं दिखाई देती जिसे स्वाभाविक माना जाय। गजमद संस्कृत नाटकों की विदूषक परंपरा का विकृत रूप है। धारा का चरित्र सामान्यतः अच्छा बन पड़ा है।

इस नाटक में जिस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया है वह आज के युग के मेल में नहीं कहा जा सकता। इसमें

अतीत भारत के जिस उपनिवेशवाद का आदर्श प्रस्तुत किया गया है वह लेखक की पुनरुत्थानवादी दृष्टि का द्योतक है।

इस श्रेणी के नाटकों में अंबपाली एक महत्त्वपूर्ण रचना है। नाटककार के शब्दों में 'अंबपाली और वैशाली की आत्मा के चित्रण में, अपने जानते, मैंने कोई त्रुटि नहीं आने दी है।' वैशाली को जिस विशिष्ट परम्परा का प्रतिनिधित्व अंबपाली करती है वह इतिहास-प्रसिद्ध है। वैशाली अंबपाली है और अंबपाली वैशाली। भगवान गौतमबुद्ध का इस राजनर्तकी के आगे—उसके आग्रह के आगे—पराभूत हो जाना वैशाली की ही विजय है। यह इसी अर्थ में ऐतिहासिक नाटक है।

वृज्जियों के फाल्गुनोत्सव, राजनर्तकी के चुनाव के आयोजन, भगवान का वृज्जियों के परिषद् को देवताओं का परिषद् कहना आदि वैशाली की ऊर्ध्वमुखी और आनन्दमयी संस्कृति के द्योतक हैं। पर इस नाटक का महत्त्व वृज्जि-संघ की संस्कृति के चित्रण पर आधारित नहीं है। इसका वास्तविक महत्त्व तो अंबपाली के जीवन के उतार चढ़ाव और मनोवैज्ञानिक ऊहापोहों पर निर्भर करता है।

अंबपाली अपने समय की अनिंद्य सुन्दरी, वैशाली की वह राजनर्तकी है जिसके चरणों पर हजार-हजार राजमुकुट लोटा करते थे। पर एक ओर जहाँ उसके अप्रतिम सौन्दर्य में, अल्हड़ यौवन और चंचल अपांग में वह सम्मोहन और मादकता है कि भगवान बुद्ध को अपने भिक्षुओं को उसके सामने आँख मूँद लेने का निर्देश करना पड़ा था वहीं उसमें प्रेरणा और स्फूर्ति का वह अजस्र स्रोत भी है जिसे पीकर वृज्जियों को शत्रु से लोहा लेने के लिए पुनः कृतसंकल्प होना पड़ा था। तेजस्विनी तो वह ऐसी है कि अजातशत्रु जैसे दुर्धर्ष और पराक्रमी सम्राट को उसके सम्मुख हतप्रभ होकर पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इन सब विशेषताओं के साथ ही उसमें प्रेमिका की गीतिमयता भी है जो उसे मानवीय भूमि से बराबर संपृक्त रखती है।

अंबपाली के अतिरिक्त और पात्रों को व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है। वे जैसे अंबपाली की जययात्रा के माइल स्टोन हैं। वह एक-एक करके सबको पीछे छोड़ती जाती है। वृज्जि-संघ के राजकुमार अजातशत्रु—यहाँ तक कि भगवान गौतमबुद्ध—सबके सब उससे इस प्रकार अभिभूत हैं मानों वे अपनी पराजय स्वीकार करने के लिए ही निर्मित किए गए हों।

उसको अनेक परिस्थितियों में डालकर लेखक ने उसके अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करने का जो प्रयास किया है वह सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। अंबपाली एक ओर अरुण की कसक भरी स्मृति में घुली जा रही है तो दूसरी ओर अपने रूप और यौवन के प्रति पूर्ण सचेत भी है। उसे अपनी परिचारिका से यह कहलाने में संकोच नहीं होता—'कह दे, अभी ठहरें ! और सुन, जब तक सब राजकुमार न आ जायँ, उन्हें नीचे ही बैठाती जाना। जा—' वह अपने रूप यौवन से भगवान बुद्ध तक को डिगाने का हौसला रखती है। पर एक सैनिक के रूप में वह कुछ विचित्र सी लगती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के मूल में अरुण की अतिशय करुण मृत्यु और भगवान बुद्ध के प्रति प्रबल आकर्षण का उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) है। इतना सब होने पर भी अंबपाली कुछ ऐसा तीखा प्रभाव नहीं छोड़ पाती कि प्रसाद की महिमान्वित मल्लिका, देवसेना, मालविका आदि की भाँति हमारे स्मृति-पट पर अपनी अमिट रेख बना सके।

अंबपाली का वास्तविक महत्त्व इसके कथोपकथनों पर आश्रित है। अंबपाली–पुष्पधन्वा, अंबपाली–अजातशत्रु, अंबपाली–भगवान बुद्ध–सभी के संवादों में स्वाभाविकता, तार्किकता और बुद्धि का वैभव दिखाई पड़ता है। यथास्थान व्यंग्य, गर्वोक्ति और भावोद्दीपन-क्षमता के सन्निवेश से कथोपकथनों में जान आ गई है। बेनीपुरी जी के व्यक्तित्व को इनमें कहीं भी खोजा जा सकता है।

ऐतिहासिक सांस्कृतिक

लक्ष्मी नारायण मिश्र ने—'गरुणध्वज', 'दशाश्वमेध', 'वत्सराज' 'वितस्ता की लहरें'—कई सांस्कृतिक नाटक लिखे। इन नाटकों में उन्होंने भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक पक्ष को इस रूप से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है कि उसके मूलभूत तत्त्वों को स्पष्ट किया जा सके। मिश्र जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप भौतिकता और आध्यात्मिकता, योग और तप के समन्वय में निहित है। इस समन्वय का अर्थ है संयमशील प्रकृति के अनुसार आचरण। प्रकृति को छोड़कर न तो धर्म विकसित हो सकता है न जाति। इसीलिए वे प्रकृति के दमन और हनन के विश्वासी नहीं हैं। प्रकृति से कदाचित् उनका तात्पर्य है, आवयविक संघटनों से प्रादुर्भूत सहज धर्म, जैसे पुरुष में पौरुष। शारीरिक अवयवों के संघटन की दृष्टि से नारी और पुरुष में जो भिन्नता दिखाई पड़ती है—जो आन्तरिक भिन्नता—दिखाई पड़ती है—वही उनकी प्रकृति है। 'नारद की वीणा' में उन्होंने लिखा है—'पुरुष पौरुषहीन रहकर किसी भी दूसरे गुण से पूज्य नहीं हो सकता। इसी संगीत, चित्र और काव्य से गन्धर्वों की जाति ही इस पृथ्वी से उठ गई।' गरुड़ध्वज की भूमिका में उनका कहना है—'बौद्धों ने भौतिक साधनों का तिरस्कार किया था और उसका परिणाम हुआ जातीय शक्ति का विनाश और प्रायः सारे पंजाब में यवनों का प्रवेश।' कालिदास को मिश्र जी बार-बार याद करते हुए दिखाई पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक उत्कर्ष के साथ ही भौतिक उत्कर्ष के चित्र भी खींचे हैं। मिश्र जी के इन सारे सिद्धान्तों का समाहार गीता के अनासक्त

कर्मयोग में हो जाता है। मिश्र जी के समस्त सांस्कृतिक नाटकों की रीढ़ यही है।

अपने जीवन-दर्शन को रूप देने के लिए मिश्र जी ने दो-विचार-पद्धतियों—हिन्दू और बौद्ध-जैन—दो जातियों—आर्य और यवन-अनार्य—के संघर्षों और समन्वयों को अपने नाटकों का मूल आधार बनाया है। प्रसाद ने भी अपने नाटकों में इन विचार-पद्धतियों और देशी-विदेशी जातियों के संघर्षों को चित्रित किया है। किंतु प्रसाद और मिश्र जी की तत्संबंधी दृष्टियों में स्पष्ट अन्तर यह है कि जहाँ पहले ने बौद्ध धर्म और संस्कृति के उत्कर्षमूलक पक्षों को भी अंकित किया है वहाँ मिश्र जी ने उनके अपकर्ष मूलक पक्षों को ही। आर्य तथा आर्येतर जातियों के संघर्ष-चित्रों में प्रसाद ने ऐसी रेखाओं का प्रयोग किया है जिनसे राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक भावों का संतुलित उभार स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है, पर मिश्र जी ने भारतीय जीवन दर्शन की जिस मूलवर्तिनी विचार-सरणि का प्रतिपादन किया है वह मुख्यतः सांस्कृतिक ही बन पाई है। प्रसाद और मिश्र जी दोनों ही में भावुकता-परक आदर्शवाद दिखाई देता है। किन्तु प्रसाद का आदर्शवाद मानवीय कमजोरियों से लिपटा रहने के कारण कोरा आदर्शवाद नहीं रह पाता, जबकि मिश्र जी एक निश्चित विचार धारा के प्रतिपादन का मोह न छोड़ सकने के कारण बहुत कुछ पुनरुत्थानवादी प्रतीत होने लगते हैं।

गरुड़ध्वज को ही लीजिए। गरुड़ध्वज की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए हलोदर का जो प्रसंग ले आया गया है वह कथा-वस्तु में विक्षेप डालने वाला तत्त्व है। हलोदर और विक्रम मित्र की वार्ता को जो पच्चीस पृष्ठ दिए गए हैं वे नाटक की मुख्य कथा-वस्तु में योग देने को कौन कहे उलटे उसके प्रवाह को गतिरुद्ध करने तथा अभिनेयता की रोचकता को रसहीन बनाने में ही अधिक सहायता पहुँचाते हैं। इतनी लंबी-चौड़ी वार्ता का केवल एक प्रयोजन है—

विदेशियों में गरुणध्वज के प्रति निष्ठा का प्रस्थापन। इस वार्ता के बाद हलौदर महोदय एक दम लापता हो जाते हैं।

पुरुष पात्रों में विक्रममित्र, काशिराज और कालिदास प्रमुख हैं। विक्रममित्र आर्य संस्कृति—अनासक्त कर्मयोग—के गौरव स्तंभ हैं। नाटक में आद्यन्त वे इसी रूप में दिखलाए गए हैं। वे किसी भी स्थिति से अपरिचत नहीं हैं, समस्त परिस्थितियों को वे इच्छानुकूल मोड़ देने में समर्थ हैं। आदर्शों के उच्च शिखर से नीचे न उतरने के कारण वे मानवीय नहीं प्रतीत होते। कालिदास को, यदि उनके कुछ ग्रन्थों का नाम न ले लिया गया होता, तो पहचानना कठिन ही होता। काशिराज तो विकृतिमूलक बौद्ध धर्म को उपस्थित करने के लिए ही ले आए गए हैं। नारी पात्रों में कोई उल्लेखनीय चरित्र नहीं है।

'नारद की वीणा' ऐतिहासिक नाटक नहीं है, इसे इतिहासाश्रित नाटक कह सकते हैं क्योंकि यह ऐतिहासिक तथ्यों का आश्रयी न होकर आनुमानिक ऐतिहासिक वातावरण पर आधारित है। पर इस नाटक का सृजन क्यों हुआ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो मिश्र जी आर्य आदर्शों की स्थापना करने में सांस्कृतिक पुनरुत्थान पर बराबर बल देते हुए दिखाई देते हैं वे अनार्यों अथवा भारत के आदिम निवासियों की उच्च आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक निर्माण के आगे आर्यों को बर्बर और विध्वंसक क्यों सिद्ध करते हैं? इसकी भूमिका में राहुल जी के 'बोल्गा से गंगा' की प्रतिक्रिया के रूप में इसे लिखा हुआ बतलाया गया है पर क्या इसके सृजन के मूल में प्रसाद की वह स्थापना नहीं है जिसमें आर्यों को ही यहाँ का मूल निवासी बतलाया गया है! किंतु शुद्ध नाटक की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं आँका जा सकता क्योंकि सिद्धान्तों की बहुलता के कारण यह थोड़ा बहुत अन्यापदेशिक नाटक-सा भासित होने लगता

है। अनासक्त कर्मयोग की स्थापना यहाँ पर भी की गई है। इसके प्रतिनिधि हैं नर और नारायण।

'वत्सराज' में निगमागम धर्म और श्रमण धर्म में 'कौन वरेण्य है, यह समस्या उठाई गई है। उपर्युक्त नाटकों की अपेक्षा कई दृष्टियों से यह अच्छा बन पड़ा है। इस नाटक में भी अनासक्त कर्मयोग को बार-बार सामने लाया गया है पर अन्य नाटकों की भाँति मानवीय संवेगों से विरहित न होने के कारण यह अपेक्षाकृत अधिक सरस और रोचक हो सका है। श्रमण धर्म, संघाराम, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के प्रति नाटक के सभी प्रमुख पात्रों उदयन, यौगन्धरायण, वासवदत्ता, पद्मावती--की धारणाओं में एकरूपता है। वासवदत्ता का यह कथन कि "संघारामों में कुमार कुमारी छिप कर प्रेम करेंगे। वहाँ भी शिशु...केहां केहां करेंगे।" उनका पिता कौन है कोई नहीं जानता। ऐसी दशा में इस देश की नाव डूब जायगी ?— सभी की विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करता है। अंतिम अंक में 'गौतम' तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। अपने एकमात्र कुमार को बुद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने पर उदयन का सारा परिवार मर्माहत हो जाता है। वासवदत्ता और पद्मावती को इससे अत्यधिक धक्का लगता है। गोपा का परित्याग कर गौतम के संन्यास लेने पर जो प्रतिक्रिया पद्मावती में होती है वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक तथा प्रभावोत्पादक है। पर अंत में उदयन के व्यक्तित्व के आगे कुमार अप्रतिहत होकर श्रमण-धर्म का परित्याग कर देता है। इस नाटक में जो संवेगात्मक क्लाइमेक्स दिखाई देता है वह नाटकीय स्थिति (Drametic situation) की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

पर जिस निष्कर्ष और दृश्य के साथ नाटक समाप्त होता है, उसका संबंध प्रथम अंक से नहीं जुड़ पाता। महासेन के बंदीगृह में उदयन का निवास, और घोषवती वीणा का अत्यन्त व्यापक और

रागोद्दीपक प्रभाव और पद्मावती हरण का प्रसंग आदि अंतिम अंक से एकदम असंबद्ध हो गए हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उदयन, यौगंधरायण, वासवदत्ता और पद्मावती के चरित्र विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। उदयन धीरललित नायक है, यद्यपि कर्मयोग में विश्वास रखने के कारण वह धीरोदात्त कहा जा सकता है। वह अपूर्व संयमी है, यद्यपि थोड़ा कम संयमी होने पर उसका चरित्र अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता। अनासक्त कर्मयोग की चर्चा तो वह बहुत करता है, पर कर्मयोग में तल्लीन होने का उसे कभी अवसर नहीं प्राप्त होता। वह सारा काम मंत्री पर छोड़कर वासवदत्ता, पद्मावती और घोषवती से बातचीत करने में ही अधिकांश समय व्यतीत करता है। यौगंधरायण चोटी का कूट-नीतिज्ञ है। उदयन तथा उसका सारा परिवार उसकी कूटनीतिज्ञता के चतुर्दिक चक्कर काटता हुआ प्रतीत होता है। वासवदत्ता प्रेम और त्याग की जीवंत मूर्ति है। कुछ परिस्थितियों में पड़कर पद्मावती का चरित्र जो द्वन्द्वमय बना दिया गया है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्तियुक्त बन पड़ा है।

जीवनी परक ऐतिहासिक नाटक

इधर हिन्दी में तीन जीवनी परक ऐतिहासिक नाटक लिखे गए—दो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी से संबद्ध है और एक रहीम की जीवनी से। 'कवि भारतेन्दु' के लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं और 'भारतेन्दु' के सेठ गोविन्ददास। 'कवि भारतेन्दु' और 'भारतेन्दु' के नाम से ऐसा लगता है कि एक में केवल भारतेन्दु के कवि को लिया गया है और दूसरे में समग्र भारतेन्दु को। पर मिश्र जी ने कदाचित् कवि को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है जिसके अंतर्गत उनका समस्त साहित्यिक रूप समाहित हो जाता है।

जीवनी परक नाटकों में सुसंबद्ध घटनाओं का अभाव रहता है, यद्यपि उन्हें सुशृंखलित करना बहुत कठिन नहीं है। मिश्र जी ने भारतेन्दु के जीवन की कुछ घटनाओं को प्रधानता देते हुए नाटक को गतिशील और अन्वितिपूर्ण बनाने का प्रयास किया है। किंतु द्वितीय अंक में बहुत सी घटनाओं और सूचनाओं के समावेश के कारण नाटक की गति खंडित और अन्विति दोषपूर्ण हो गई है। सेठ जी का 'भारतेन्दु' तो और भी बिखर गया है। वह नाटक उतना नहीं बन पाया है जितना इतिहास और जीवनी। भूमिका में सेठ जी ने लिखा है—'मेरे मतानुसार हरिश्चन्द्र जी के जीवन में जो प्रधान-प्रधान बातें हुईं, उन्हें भी इस नाटक में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में रखा है।' इन प्रधान-प्रधान बातों को कहीं न कहीं रखने की बलवती इच्छा ने ही नाटकीय अन्विति को बिखरा दिया है। मिश्र जी ने भारतेन्दु के जीवन की घटनाओं को यत्किंचित् घात प्रतिघातात्मक ढंग से रखने की चेष्टा की है पर सेठ जी ऐसा नहीं कर सके हैं।

सेठ जी के चौथे और पाँचवे अंक इस तरह असंबद्ध से लगते हैं कि उनमें बादरायण संबन्ध ही स्थापित किया जा सकता है। अंतिम अंक में 'भारत दुर्दशा' के एक अंश के घुसेड़ देने का परिणाम यह हुआ है कि नाटक के भीतर नाटक घुस गया है जो नाटकीय प्रभावान्विति को क्षीण और कथा की गति को अवरुद्ध बना देता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सेठ जी के 'भारतेन्दु' को जो व्याप्ति मिली है वह मिश्र जी के कवि-भारतेन्दु को नहीं। इसके लिए मिश्र जी की टेकनीक ही अधिक बाधक है। विभिन्न दृश्यों की योंजनाओं के कारण सेठजी ने सहज में ही कुछ ऐसे मार्मिक प्रसंगों को भी अपने नाटक में सन्निविष्ट कर लिया है जो प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से बहुत युक्ति-युक्त कहे जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण की सुविधा और रंगमंच पर अनेक दृश्यों के प्रदर्शन की सुकरता को देखते हुए आज के नाटकों में पुनः दृश्य-विधान पर ध्यान दिया जाने लगा है। सेठ जी ने भारतेन्दु के वैयक्तिक, साहित्यिक और सामाजिक पक्षों को विविध दृश्यों में बाँधा है। भारतेन्दु के जीवन में माधवी और मल्लिका का आना उनके सच्चे सौंदर्य प्रेम का ही द्योतक नहीं हैं, इससे उनकी चारित्रिक दृढ़ता और नवीन मानवतावादी भावना भी प्रकट होती है। यह प्रसंग दोनों नाटकों में है पर मिश्र जी ने इन्हें ही मुख्यता दी है। सेठ जी ने इस प्रेम-प्रसंग के विरोध में हरिश्चन्द्र की त्यागमयी तपस्विनी पत्नी का जो दृश्य उपस्थित किया है वह अपने में अतिशय करुण हो गया है। पत्नी की तपश्चर्या और घोर उदासीनता का प्रभाव हरिश्चन्द्र पर कम नहीं पड़ा है। 'कवि भारतेन्दु' में हरिश्चन्द्र की पत्नी मन्नोदेवी का प्रसंग ही नहीं है। मन्नोदेवी पर अधिक ध्यान देने के कारण सेठ जी माधवी और मल्लिका को व्यक्तित्व नहीं प्रदान कर पाए हैं इसके विपरीत 'कवि भारतेन्दु' की 'माधवी' अपनी संपूर्ण तेजस्विता में चित्रित होने के कारण हमारे ऊपर गहरी छाप छोड़ जाती है। सेठ जी 'भारतेन्दु' में जहाँ भारतेन्दु के जीवन

की कुछ करुण घटनाओं को—मन्नोदेवी की करुण गाथा, ऋणी भारतेन्दु को बंदी बनाने के लिए सब-इंस्पेक्टर के आने की घटना आदि को समाविष्ट किया है वहाँ अनेक याचकों के प्रवेश और बुढ़वा मंगल की दृश्य-योजना के सन्निवेश से उनकी घरफूक मस्ती का जीता-जागता चित्र भी खींचा है। मिश्र जी भारतेन्दु की इस मस्ती को अच्छी तरह उभार नहीं पाए हैं।

कथोपकथन के कलागत वैशिष्ट्य में मिश्र जी हिन्दी नाटककारों में बेजोड़ हैं। वह विशेषता यहाँ भी मिलेगी। सेठ जी के जो कथोपकथन सूचनात्मक (इनफारमेटिव) हो गए हैं उनकी कमजोरी अपने आप स्पष्ट है। मन्नोदेवी के भावोद्गारों का जहाँ तक सम्बन्ध है वे पर्याप्त भावोद्दीपक बन पड़े हैं।

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर मिश्र जी के अन्य नाटकों में जो क्रियागत अभाव दिखाई पड़ता है उससे यह नाटक अछूता नहीं है। दूसरे अंक के अनेक प्रभावपूर्ण प्रसंगों को केवल संवादों के माध्यम से व्यक्त किया गया है, इससे इसमें अपेक्षित प्रभावोत्पादकता नहीं आ पाई है। भारतेंदु के कई गीतों तथा उनके जीवन से संबद्ध अनेक दृश्यों के समावेश के कारण सेठ जी का नाटक अपेक्षाकृत अधिक रंगमंचोपयुक्त और रोचक बन पड़ा है।

रहीम

सेठजी ने रहीम की जीवनी को आधार मानकर दूसरा जीवनी परक ऐतिहासिक नाटक लिखा। इसमें रहीम के जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव के अतिरिक्त उनके राग-विराग के द्वन्द्व को भी चित्रित किया किया गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के वैभवपूर्ण वातावरण तथा उनकी देश और साहित्य संबन्धी सेवाओं को स्वयं अपने जीवन में अनुभव करने के कारण सेठ जी ने 'भारतेन्दु' नाटक लिखने का निश्चय किया। पर स्वयं भारतेन्दु के लिए उनका जीवन संतोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, इसलिए उसे दुःखान्त बना देना अस्वाभाविक

नहीं है। (किन्तु स्वयं सेठ जी उसे दुःखान्त नहीं मानते।) रहीम के जीवन में उन्होंने स्वयं अपने जीवन के संतोष की छाया देखी और कदाचित् उसी को वाणी देने का फल 'रहीम' है। रहीम अपने जीवन के अंतिम समय में सोचता है—'...बेटी...बेटी, जिस तरह... जिस तरह...मेरा जीवन बीता, उससे...उससे मुझे बहुत...बहुत असंतोष नहीं है।' यह सेठ जी के अपने जीवन की धारणा है। नाटकीय कला-कौशल और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह 'भारतेन्दु' से बहुत-कुछ मिलता-सा है पर उसकी अपेक्षा यह अधिक चुस्त और गंठा हुआ है।

सिने नाटक

यों तो हिन्दी में ऐसे नाटकों की रचना पहले ही आरम्भ हो चुकी थी जो चित्रपट पर सफलतापूर्वक उतारे जा सकें, जैसे गोविन्ददास का 'कर्तव्य' और सुदर्शन का 'भाग्य चक्र' (धूप छाँह); पर इधर १६५४ में रामकुमार वर्मा ने 'स्वप्न चित्र' और भगवती चरण वर्मा ने 'स्वप्न दत्ता का चित्रालेख' (१६५५) चित्र-पट की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए लिखा।

इन सिने नाटकों पर विचार करने के पूर्व यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि आखिर ये लिखे क्यों गए? क्या ये नाट्य साहित्य की रक्षा के लिये लिखे गए? रामकुमार वर्मा की ऐसी ही राय है। वे 'स्वप्न चित्र' की भूमिका में लिखते हैं—'किसे रंगमंच के स्थिर दृश्य में जीवन की विवेचना सुनने का अवकाश है जब दूसरी ओर चित्रपट अपने रसीले गानों और विचित्र कौतुकों से सामान्यजन को अपनी ओर खींच रहा है। इस स्थिति में नाट्य साहित्य की रक्षा के दो ही उपाय हो सकते हैं......दूसरा उपाय साहित्यकार और चित्रपट-निर्माता के परस्पर समझौते का है। यह समझौता कैसे होगा, समय और परिस्थति का प्रश्न होगा। इसके लिए या तो राज्य विधान साहित्य और चित्रपट के परस्पर सहयोग की प्रतियोगिताएँ रखे या साहित्यकार स्वयं ऐसा साहित्य दे कि चित्रपट-निर्माता उसके समक्ष मस्तक झुका दे। बंगला साहित्य के कथा-लेखक स्वर्गीय शरच्चन्द्र ने ऐसा साहित्य दिया है कि बंगाल में चित्रपट निर्माताओं ने चित्रपट पर प्रस्तुत किया है...।'

वर्मा जी ने नाट्य साहित्य की रक्षा के लिए जो दूसरा उपाय

बताया है वह साहित्यकार के लिए काफी मँहगा पड़ेगा। इसके साथ ही कई प्रश्न एक साथ ही उठ खड़े होते हैं। क्या नाट्य साहित्य को समझौते पर ही जीना होगा? क्या साहित्यकार को जीने के लिए राज्य-विधान का सहारा लेना ही होगा? क्या शरच्चन्द्र ने चित्रपट को लक्ष्य में रखकर साहित्य-रचना की है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है। यदि अपने रंगमंच को जाग्रत करने की जगह हमारे चोटी के नाटककार फिल्म-व्यवसाय से समझौते की आशा में बैठे रहेंगे तो नाट्य साहित्य का बेड़ा विधाता ही पार लगाएगा। पर भगवतीचरण वर्मा का उद्देश्य वैसा कुछ नहीं है। फिल्म के ही लिखा गया चित्रालेख पुस्तक रूप में प्रकाशित करा दिया गया है।

रामकुमार वर्मा ने माधवानल कामकंदला की जो कहानी चुनी है यह प्रेम-कहानी है जो फिल्म-व्यवसाय—लोकप्रिय फिल्म-व्यवसाय के अनुकूल है। माधवानल कामकंदला की मूल कथा काफी पुरानी है। पर उन्होंने बोधाकृत बिरह वारीश (माधवानल कामकंदला) को अपने सिने नाटक का आधार बनाया है। वर्मा जी ने कथा में कोई नवीन तत्व नहीं जोड़ा है पर कुछ ऐसी कथाओं और घटनाओं को अपने नाटक से निकाल दिया है जो नाटकीय कथा-निर्माण में बाधक सिद्ध होते थे। न तो इसमें लीलावती की कथा है और न विक्रमादित्य द्वारा कामकंदला के सतीत्व की परीक्षा ही है। डा० राजेश और लता के वार्तालाप को प्रोलॉग के रूप में लिखा गया है, यह बोधा के विरही और बाला का ही दूसरा रूप है। लेकिन इस प्रोलॉग में भी वर्माजी ने चित्रपट को बराबर ध्यान में रखा है, अन्यथा राजेश की लड़की लता को अपने पिता से परिहास करने की हिम्मत न होती।

फिल्मी कहानी में आँख और कान को संतुष्ट करनेवाले तत्त्वों की प्रधानता होनी चाहिए। आँख को संतुष्ट करने के लिए सिनिरियो-लेखन का कार्य काफी कुशलतापूर्वक सम्पन्न होना आवश्यक है।

कान को परितुष्ट करने के लिए संवाद योजना नाटकीय और भाव-पूर्ण होनी चाहिए। वर्मा जी के सीनीरियो-लेखन का एक उदाहरण लीजिए—'राजमहल के झरोखे से दिखलाई देने वाली नर्मदा नदी की धारा। चाँदनी का प्रकाश नर्मदा नदी की धारा पर गिर कर तरंगों में रजत प्रतिबिंब उत्पन्न कर रहा है। एक ओर से राजा के दो सेवकों का प्रवेश। वे चारों ओर देखते हुए दबे पैरों से आ रहे हैं। उनके हाथ में चन्दन की लकड़ी का एक सुन्दर-सा संदूक है। उसमें रेशमी वस्त्रों में सुसज्जित कर नवजात बालिका रख दी गई है। वह अपने हाथ-पैर उछाल रही है।...

महल के झरोखे पर खड़ा होकर राजा यह दृश्य गंभीरता से देख रहे हैं।

दूसरे झरोखे पर रानी बिलख-बिलख कर रो रही है। उनकी सखियाँ उन्हें सँभाल रही हैं।

पास ही वृक्ष से एक पक्षि-शावक नीड़ से नदी में गिरता है। चीख उठती है।...'

इसमें अंतिम दृश्य वातावरण को अतिशय भयानक बना देता है। सीनीरियो-लेखन का सारा सौन्दर्य उन उपकरणों के संग्रह पर निर्भर करता है जो दृश्य को मोहक और सप्राण बना सकें। नाटकीय संवाद का ध्यान भी इसमें बराबर रखा गया है जो फिल्म के लिए उपयुक्त है।

पर इस प्रकार की कहानी को लेकर चित्रालेख प्रस्तुत करना एक श्रेष्ठ कलाकार के लिए कहाँ तक उचित है। इससे वर्मा जी ने समझौते के लिए हाथ बढ़ाया है। खेद है कि अभी तक किसी फिल्म व्यवसायी ने इसका स्वागत नहीं किया। रंगमंच से निराश होकर फिल्म की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। किन्तु इससे हिन्दी रंगमंच को क्या मिलेगा? इस समझौते की प्रवृत्ति से कलाकार रुपये के लोभ में फिल्म व्यवसायियों के आगे काफी झुकेगा

और कला की दृष्टि से भी वह हल्की-फुल्की चीज देकर ही संतोष करेगा।

भगवती चरण वर्मा के वासवदत्ता' के चित्रालेख की कहानी भी प्रेम कहानी है। यह सिनेमा के लिए ही लिखी गयी है, इसका उल्लेख हो चुका है। पर यह कहानी 'सत्य का स्वप्न' से भिन्न है। जहाँ दूसरी कोरी प्रेम-कहानी बनकर रह गई वहाँ पहली जीवन का संतुलित और स्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इसमें वह तेज और स्वास्थ्य है जो आज के युग की माँग के सर्वथा अनुरूप है।

जैसा कि लेखक ने भूमिका में लिखा है इससे चित्रालेख की बहुत सी जानकारियाँ हो जाती हैं। वासवदत्ता की सौन्दर्य-गरिमा, प्रतिक्रियात्मक हिंसा वृत्ति और अंत में विवशतापूर्ण दैन्य की बहुत सुन्दर झाँकी प्रस्तुत हो जाती हैं। अपने समस्त वैभव विलास में जगर-मगर करती हुई अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी वासवदत्ता के करुण अंत का किसको पता था? इस चित्रालेख को प्रस्तुत करने में अभिनय, चित्रांकन, संवाद और ध्वनि का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

पर इस प्रकार स्वतंत्र चित्रालेख प्रस्तुत करना लेखक के सम्मान के अनुकूल नहीं कहा जा सकता (भगवती चरण वर्मा इस कोटि में नहीं आते क्योंकि उनसे फिल्म के लिए ही यह लिखवाया गया था)। इससे साफ प्रकट है कि लेखक फिल्म-निर्माताओं की दया का मुहताज बना रहेगा और धीरे-धीरे उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का ह्रास हो जायगा।

पौराणिक नाटक

पौराणिक नाट्य रचना के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। ये इस धारा के प्रतिनिधि नाटककार हैं। भट्टजी ने पौराणिक नाटकों के माध्यम से नवीन युगचेतना के आकलन का प्रयास किया है। पर प्रारंभिक नाटक होने के कारण 'सगरविजय' इस दृष्टि से उलझन पूर्ण हो गया है। वस्तु-योजना की दृष्टि से यह बहुत ही शिथिल और घटनाबोझिल प्रतीत होता है।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का संबंध है प्रमुख रूप से तीन ही चरित्रों का विकास हो पाया हैं। इनमें से सगर और दुर्दम वैयक्तिक विशेषताओं से हीन टाइप चरित्र है। केवल बर्हि के चरित्र में मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ दिखाई पड़ती हैं। क्षण विशेष में उसका कोमल नारीत्व भी झलक उठता है।

यद्यपि पौराणिक नाटकों में ऐतिहासिक नाटकों का बंधन नहीं रहता फिर भी युग के परिवेश की पूरी अवहेलना नहीं की जा सकती। इस नाटक में 'वैद्य महाशय' और 'सरकार' जैसे शब्दों का प्रयोग लेखक की काल गत चेतना के विरुद्ध पड़ते हैं।

विद्रोहिणी अंबा में आज की जाग्रत नारी की नवीन चेतना का आकलन किया गया है। नारी की यह नवीन चेतना—समाज में अपनी उचित मर्यादा—के मूल में आज का राजनीतिक जागरण ही है। अंबा भट्ट जी की सफल कृति है। इसकी सफलता का रहस्य भट्ट जी के प्रौढ़कवि और जन-चेतना के समन्वय में खोजा जा सकता है।

महाभारत-काल में उद्भट योद्धाओं, कूट के आचार्यों और दार्शनिक मनीषियों की कमी नहीं रही है, किंतु नैतिक दृष्टि से वह एक रुग्ण युग था। युधिष्ठिर जैसे धर्मराज भी अपना हित-संपादन करने के लिए झूठ बोल सकते थे और भीष्म जैसे योद्धा और दार्शनिक

अन्याय का पक्ष ग्रहण कर सकते थे। आज का बौद्धिक युग उस युग के समस्त क्रिया-कलापों को नए सिरे से देखता है और उनसे नवीन मानवतावादी निष्कर्ष निकालता है। 'अंबा' महाभारत काल का पात्र है—उस सामंतीय काल का जिसमें नारी की सामाजिक अवस्था अत्यंत हीन हो गई थी, जिसमें उसे क्षुद्रातिक्षुद्र पदार्थों से भी हीन समझा जाता था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भट्ट जी ने अंबा को नए सिरे से गढ़ा है। अंबा के कथानक का ढाँचा महाभारत का ही है, भट्ट जी ने उसमें आज के मंत्रों द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा अवश्य की है।

महाभारत काल में जीवन-मूल्यों में परिवर्तन तो जरूर हो रहा था लेकिन अभी एक झटके में रूढ़ियों को तोड़ने का साहस नहीं आ पाया था। उस समय योग्य पुत्र वही था जो पिता की अनुचित सी अनुचित आज्ञा का पालन करता था। भीष्म की गौरव-गाथा का मूलाधार यही था। बड़े से बड़े सामाजिक हित की उपेक्षा करके व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता था। पितामह भीष्म भी ऐसे ही थे। अपनी कार्यवाहियों के प्रति उनका मन संशय-ग्रस्त अवश्य था लेकिन वे सामंतीय संस्कारों से अपने को मुक्त भी कैसे कर सकते थे। भट्ट जी ने भीष्म के कतिपय कार्यों को आज की बौद्धिक दृष्टि से देखा है और उनके प्रति शंकाएँ भी उठाई हैं।

भीष्म के अमर्यादित कार्य के विरुद्ध अंबा विद्रोह करती है। इस नाटक के केन्द्र में भीष्म हैं और अंबा उसकी परिधि है। जिस भीष्म ने जीवन में देव-दनुज-गंधर्व को बात की बात में पराजित किया अपने गुरुदेव परशुराम का गर्व खंडित किया, भगवान कृष्ण को विष-बुझे तीक्ष्ण बाणों से जर्जर कर चक्र उठाने के लिए बाध्य किया, उसको एक नारी से परास्त होकर शर-शय्या पर शयन करना पड़ा।

पितामह ने अपनी भीष्म-प्रतिज्ञा के अतल आवर्त में चार-चार

नारियों को डुबो दिया। अंबा, अंबिका, अंबालिका को—काशिराज की तीनों कन्याओं को—बलपूर्वक स्वयंवर से हरण कर अपने क्षय-ग्रस्त निर्वीर्य भाइयों के गले मढ़ देना किसी भी दृष्टि से नैतिक नहीं माना जा सकता। पिता की आज्ञा-पालन करने के व्यामोह में इन्होंने सत्यवती के चिर यौवन को भी सर्वनाश की भट्टी में झोंक दिया। लेखक का यही दृष्टि कोण है।

पुरुष प्राचीन काल से ही नारी के प्रति कभी भी उदार नहीं रहा। वह उसकी भोग्या मात्र बनकर जी सकती थी, उसकी स्वतंत्र विचारणा और स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं था। 'अंबा' के सभी पुरुष पात्र इसी विचार के हैं और सभी स्त्री पात्र पुरुषों द्वारा पीड़ित, शोषित और दलित। अंबा ने पुरुष के प्रति—उसके प्रतिनिधि भीष्म के प्रति—विद्रोह किया है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में भट्ट जी ने और भी कई सामाजिक मान्यताओं और गलित रीतियों पर प्रहार किया है जैसे, जातीय कौलीन्य और वृद्ध विवाह। व्यष्टि और समष्टि के प्रश्न को भी इसमें कुशलता पूर्वक गूँथ दिया गया है।

लेकिन ये 'अंबा' की प्रासंगिक समस्याएँ हैं, मुख्य समस्या नारी की अवमानना ही है। अंबा की प्रतिक्रिया उसी के प्रति है। भीष्म द्वारा स्पृष्ट, शाल्व द्वारा अपमानित नारी अभिशाप की ज्वाला बन जाती है। प्रतिशोध की यह अग्नि एक जन्म में शांत नहीं होती, दूसरे जन्म में भी उसी प्रकार प्रज्ज्वलित होती रहती है। अंबिका-अंबालिका का निरीह आत्मपीड़न और सत्यवती का मानसिक द्वंद्व नारी की विभिन्न स्थितियों और अवस्थाओं का द्योतक है। सामान्यतः नारी की स्थिति अंबिका और अंबालिका से भिन्न नहीं। सत्यवती का आत्म-क्षोभ नारी के आत्म-चैतन्य का दूसरा सोपान है और अंबा का प्रतिशोध उससे एक सीढ़ी आगे चेतनता की चरम सीमा है। नारी के जागरण का क्रम मनो-वैज्ञानिक सत्य है।

लेकिन अंबा को अपनी सारी सहानुभूति अर्पित करने के पश्चात् जैसे भट्ट जी को भीष्म के लिए कुछ शेष नहीं बचा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि भीष्म का चरित्र असंतुलित और एकांकी हो गया है। महाभारत के पितामह कठिनाई से पहचान में आते हैं। विचित्रवीर्य और चित्रांगद को विभिन्न ताने-बाने से बुनकर उनको व्यक्तित्व प्रदान किया है।

कथानक के अनुरूप संवादों में भावात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है, किन्तु कहीं-कहीं काव्यात्मकता इस तरह अपरूप हो गई है कि कथन का सारा सौन्दर्य विकृत हो गया है। उदाहरणार्थ सौभनरेश शाल्व के निजी स्थान पर पहुँचकर अंबा का कथन देखिए—'प्रतीज्ञा के फड़फड़ाते हुए पंखों से उलझने वाले प्रियतम, अंबा का प्रणाम स्वीकार करो नाथ' किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। 'सगर-विजय' में मैंने जिस ऐतिहासिक चेतना की कमी का उल्लेख किया है वह अंबा में भी दिखाई पड़ती है। अंबा का 'कोहनूर' से परिचित होना, गंधर्व का 'हायरी अम्मा' कह कर गिर पड़ना, तथा सत्यवती का 'सींग समाय' मुहावरे का प्रयोग करना ऐतिहासिक चेतना की कमी का द्योतक है।

उग्र के 'गंगा का बेटा' में भीष्म से संबद्ध प्रायः समस्त पौराणिक और निजंधरी कथाओं का उपयोग किया गया है। इससे कथा-वस्तु अनपेक्षित रूप से विस्तृत और बोझिल हो गई है। इधर चतुर-सेन शास्त्री ने 'गांधारी' (सं० २००७ वि०) और गोविन्दवल्लभ पंत ने 'ययाति' (२००८ वि०) पौराणिक नाटक लिखे। पहले में विवाह-विच्छेद के विरुद्ध पातिव्रत का उदात्त चित्र खींचा गया है और दूसरे में खाद्यान्न की समस्या सुलझाने की ओर निर्देश किया गया है। पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला' (१९५० ई०) गुप्त जी की 'यशोधरा' और 'साकेत' की गहरी छाया में उगने से पनप नहीं सकता है।

समस्या-नाटक

योरोप में समस्या नाटकों का प्रचलन रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप हुआ। १६ वीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में इब्सन ने नाटकों के क्षेत्र में जो प्रवर्तन किया उससे शेक्सपियर की रोमानी भावनाओं के स्थान पर एक बौद्धिक चेतना उत्पन्न हुई। उससे प्रेरणा ग्रहण करके शा ने पिटी हुई परंपराओं और रोमानी धारणाओं पर गहरा प्रहार किया। फिर तो शा का प्रभाव इतना विश्व-व्यापी हुआ कि उसके नाटकों की गूँज देश-देशान्तर में फैल गई। हिन्दी समस्या-नाटकों में भी उसकी क्षीण प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार शेक्सपियर के रोमानी नाटकों की प्रतिक्रिया योरप में हुई उसी प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद के ऐतिहासिक रोमांसों की हमारे देश में। लक्ष्मीनारायण मिश्र, जो हिन्दी समस्या-नाटकों के प्रवर्तक माने जाते हैं, 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में लिखते हैं—'हमारे जो कुछ इने-गिने नाटक इधर प्रकाशित हुए हैं सब में दुर्भाग्यवश द्विजेन्द्रलाल राय को आदर्श मानकर लेखकों ने कागज रँगा है। द्विजेन्द्रलाल राय ने नाटकों के क्षेत्र में बंगाल का शेक्सपियर बनना चाहा था और बंगाली आलोचकों की भयंकर भावुकता और दयनीय विचार हीनता के कारण उन्हें वह पद मिल भी गया। जिस युग में योरोप के नाटककार शेक्सपियर के नाटकों को मनोविज्ञान और यथार्थ के प्रतिकूल कहकर एक नया रास्ता निकाल रहे थे, बौद्धिक अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक मीमांसा का वह रास्ता जिस पर इब्सन से लेकर इस युग तक के सभी नाटककार चलते

रहे हैं और चलते ही रहेंगे, उसी युग में शेक्सपियर के अनुकरण पर हमारे देश में भावुकता की गंदी प्रवृत्ति फैल गई और उस गंदी प्रवृत्ति के सबसे बड़े प्रतिनिधि,द्विजेन्द्रलाल राय हुए।...द्विजेन्द्रलाल-राय से बढ़कर अन्तःकरण का अंधा साहित्यकार मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं आया—।' इसी नाटक में 'उन्नीस वर्ष बाद' शीर्षक के अन्तर्गत प्रसाद को भी शेक्सपियर का उत्तराधिकारी बतलाया गया है। योरोप में नाटकों का हर परिवर्तन ऐतिहासिक शृंखला की एक कड़ी के रूप में आता है। लेकिन हिन्दी में इब्सन और शा का जादू पहले आया और द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद की प्रतिक्रिया बाद में हुई।

समस्या नाटकों की मुख्य प्रवृत्ति है—रूढ़ियों पर प्रबल कशाघात। नाटककार अपने पुष्ट तर्क और चिंतन के सहारे परम्परायुक्त आचार-विचारों के स्थान पर एक नई परम्परा और नूतन नैतिकता स्थापित करना चाहता है। उसे पूर्ण विश्वास होता है कि अपने सशक्त बौद्धिक आग्रह (assertion) और व्यंग्य द्वारा समाज को बदल देने में पूर्ण समर्थ है। शा की गर्वोक्ति है—'I am no ordinary playwright. I am a specialist in immoral and heretical plays. My reputation was gained by my persistent struggle to force the public to reconsider its morals. I write plays with deliberate object of converting the nation to my opinion on sexual and social matters. I have no other incentive to write plays, as I am not dependent on it for my livilihood. 'मैं सामान्य नाटककार नहीं हूँ। रूढ़ि-विध्वंसक नाटक लिखने का मैं विशेषज्ञ हूँ। मेरी प्रसिद्धि इसलिए हुई है कि मैं जनता को उसकी नैतिकता पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य करता रहा हूँ। सेक्स और सामाजिक विषयों के सम्बन्ध में मैं राष्ट्र को अपनी

धारणाओं के अनुकूल मोड़ना चाहता हूँ।...' मिश्र जं
काओं के स्वर भी शा के उपर्युक्त कथन से बहुत भिन्न न

शा की भाँति मिश्र जी ने भी प्रमुख रूप से यौन तथ
समस्याओं को अपने नाटकों का प्रतिपाद्य बनाया है।
तो मिश्र जी के नाटकों में भावुकता-परक रोमानी प्रेम की
प्रधान है। अन्य समस्याएँ तो यों ही प्रसंगात् आ गई हैं।
को वे किस रूप में उपस्थित कर सके हैं तथा उसका क
सके हैं, ये दूसरी बातें हैं।

शा और मिश्र जी की विचार-धाराओं में अनेक अ
मिलती हैं। इनके व्यक्तित्वों का मोटा अन्तर समझ लेने
रोमांस विरोधी धारणाओं को समझना भी अधिक सुगम
शा अतिशय बुद्धिवादी है। उसकी इस अतिशयता के
उसके मस्तिष्क को योरोप से आलोचकों ने असाधारण (al
कहा है। अपने साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था
एक आलोचक रहा है और जन्म भर इससे अधिक या क
हो सका। किसी स्थान पर उसने स्वयं लिखा है कि मैं
संगठन की दृष्टि से ही भावुकता हीन हूँ। मिश्र जी के
ठीक इससे उलटी बात कही जा सकती है। वे मूल
साहित्य में उनका प्रवेश कवि के रूप में ही हुआ। 'मह
इस बात का साक्षी है कि उनका कवि अब भी पूर्णत
है। ऐसी स्थिति में इनके बुद्धिवाद में भावुकता का अनजा
हो गया है।

वे छायावाद युग की देन हैं। छायावादी काव्य क
इनके 'अन्तर्नाद' काव्य-संग्रह में देखी जा सकती है।
कवियों के ऊपर उपनिषद् तथा अद्वैत दर्शन की जो छाप
मिश्र जी में भी दिखाई पड़ती है। भारतीय संस्कृति में इ
आस्था इन्हें योरपीय नाटककारों की भाँति शुद्ध बुद्धि

होने देती। ऐतिहासिक नाटकों में तो यही आस्था इन्हें पुनरुत्थान-वादी (Revivalist) बना देती है।

जिस समय इनके समस्या नाटक लिखे गए उस समय गांधी जी का प्रभाव देश पर इस तरह छाया हुआ था कि लोग मन्त्र-मुग्ध होकर उनका अनुगमन कर रहे थे। गांधी-दर्शन में आस्था, विश्वास, हृदय परिवर्तन आदि कुछ बातें ऐसी हैं जो बुद्धिवाद के मेल में नहीं आतीं। मिश्र जी भी गांधी-दर्शन से प्रभावित थे। अतः पाश्चात्य बुद्धिवाद का खरापन यहाँ पर नहीं दिखाई देता।

जिस मध्यवर्ग की समस्याएँ इनके नाटकों में वर्णित हैं वह पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण अपनी पुरातन नैतिकता को संदेह की दृष्टि से देखने लगा था। पर न तो इसमें इतना साहस था कि प्राचीन संस्कारों को एक झटके में तोड़ दे और न पूर्णतः पाश्चात्य संस्कृति को ही अपना सकता था। ऐसी स्थिति में एक अनिश्चयता की स्थिति पैदा हुई। इस स्थिति में एक ओर जहाँ व्यक्तिगत प्रेम को महत्व दिया जाना लगा वहाँ दूसरी ओर विवाह-संस्था को पवित्रता के सम्बन्ध में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सका। मिश्र जी के पात्रों में भी इस तरह की द्विधा दिखाई पड़ती है।

जिस भावुकता का विरोध मिश्र जी ने अपने नाटकों में किया है उसके सूत्र इब्सन और शा की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। इब्सन ने एक स्थान पर लिखा है कि यदि तुम विवाह करना चाहते हो तो प्रेम में मत पड़ो और यदि प्रेम करते हो तो प्रिय से अलग हो जाओ।[1] शा ने रोमांटिक प्रेम को अस्वास्थ्यकर और यथार्थता का

---

1. 'If you want to marry' Says Iqsen, 'don't be in love, if you love, part'.

—Nicoll. World Drama pp. 526

विरोधी बता बताकर सर्वदा तिरस्कृत किया। मिश्र जी के नाटकों की भी मूल प्रवृत्ति लगभग यही है।

'संन्यासी' की मालती कहती है—'...और फिर विश्वकान्त प्रेम करने की चीज है....विवाह करने की नहीं। प्रेम किसी दिन की... किसी महीने की, किसी साल की घड़ी भर के लिए, जो चाहे जितना दुख...सुख दे...उसमें जितनी बेचैनी हो...जितनी मस्ती हो...लेकिन वह ठहरता नहीं...।' एक दूसरे स्थान पर रोमांटिक प्रेम की व्याख्या करती हुई वह पुन: कहती है—'जिसे प्रेम करे उसके सामने झुक जाना—बिलकुल मर जाना—उसकी एक-एक बात पर अपने को न्योछावर कर देना रोमांटिक प्रेम होता है। हम लोग प्रेम नहीं करेंगे—विचार करेंगे—समझदारी के साथ एक दूसरे का ख्याल करेंगे।...' 'राक्षस का मन्दिर' की ललिता का स्वर भी उससे भिन्न नहीं है। 'मुक्ति का रहस्य' की आशा देवी भी अंत में रोमांस-विरोधी रुख अपनाती है। सिंदूर की होली की मनोरमा आदि से अंत तक रोमांस विरोधिनी बनी रहती है।

पर रोमांस-विरोधी यह दृष्टि इब्सन और शा से कुछ भिन्न है। इब्सन और शा के नारी पात्र रोमांस को छोड़ कर जीवन की व्यावहारिकता के प्रति आकृष्ट होते हैं। पर मिश्र जी के अधिकांश पात्र किसी ठेस के कारण व्यावहारिकता के प्रति जागरूक होते हैं, दूसरे शब्दों में उनका चिरंतन नारीत्व जाग उठता है। फिर भी उनकी भावुकता बनी रहती है। संन्यासी की मालती, राक्षस का मन्दिर की ललिता और मुक्ति का रहस्य की आशा भावुकता से मुक्त नहीं हो पाई हैं। ये सब की सब नारियाँ परिस्थिति विशेष में अपना रास्ता मोड़ लेती है, किन्तु मालती के इस कथन में—'मेरे शरीर की मुक्ति तो तुमसे मिल गई लेकिन मेरे आत्मा? कौन जाने...' नारी जनोचित भावुकता लिपटी हुई है। चिरन्तन नारीत्व

आदर्शवादी कल्पना है। इसके फल स्वरूप इनके नाटकों का समापन आदर्शवादी हो गया है।

मिश्र जी के इस 'आध्यात्मिक बुद्धिवाद' के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न और उठता है। क्या जिस रोमांस का विरोध इन्होंने किया है वह हमारे देश में रूढ़िबद्ध हो चुका है? योरप में विवाह के पहले अनेक प्रकार के रोमांटिक नाटक खेले जाते हैं। इसलिए शा का उनका विरोध करना स्वाभाविक था। पर यहाँ तो सामान्यतः विवाह के बाद प्रेम आरम्भ होता है—लेकिन यह प्रेम रोमांटिक नहीं होता—हो भी नहीं सकता, क्योंकि विवाह के साथ एक गहन उत्तरदायित्व का बोझ भी इन्हें सँभालना पड़ता है। स्पष्ट है कि इनके नाटकों की समस्याएँ हमारे देश की सामान्य समस्याएँ नहीं हैं। ये एक सीमित वर्ग तक ही घिरी हुई हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से सभी समस्या-नाटकों में थोड़ी बहुत समानता मिलती है। कुछ नाटकों की परिसमाप्ति भी प्रायः एक ही प्रकार की हैं। पर सिंदूर की होली की समस्या और हल अन्य नाटकों से कुछ भिन्न हैं। इसमें भी समस्या विवाह की ही है—विधवा-विवाह की और प्रथम दर्शन में प्रेम द्वारा अनुप्रेरित विवाह की। इन दोनों समस्याओं को मिश्र जी ने हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है, पर अपनी ओर से उन्होंने कोई हल नहीं रखा है। नाटकों में समस्याओं का हल रखना बहुत आवश्यक भी नहीं है। यह हल पाठकों के विवेक पर छोड़ दिया गया है।

बुद्धिवादी वर्ग विधवा-विवाह का समर्थक रहा है और आज भी कर रहा है, लेकिन नाटक में विधवा-विवाह का विरोध किया गया है। जिस बुद्धि के आधार पर विधवा-विवाह का समर्थन किया जाता है, उसी के आधार पर इसमें विरोध किया गया है। इस विरोध के पुष्ट तर्कों को देखकर कहा जा सकता है कि तर्क द्वारा कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। मिश्र जी का यह दृष्टि-कोण विधवा-विवाह के

समर्थकों को चौंकाने वाला तथा धक्का देने वाला है। इस तरह बुद्धि द्वारा एक रूढ़ि का समर्थन किया गया है।

मनोरमा वैधव्य के समर्थन में कहती है–'तुम्हारा वैधव्य तुम्हारा है—वह तुम्हारा स्वर्ग हो सकता है, लेकिन उसमें समाज की संसार की क्या आशा है? वेदमंत्र, हवन, शंख-ध्वनि, जिनके साथ तुम्हारा समझौता नहीं हो सकता—सामाजिक संस्कारों के लिए मुहर का काम करते हैं—— मैं विधवा हुई थी एक बार मेरे लिए वैधव्य की संभावना नहीं हो सकती, क्योंकि अब फिर मेरे विवाह के नाम पर वेदमंत्र, शंखध्वनि, ब्रह्मभोज का अवसर नहीं आयेगा, लेकिन तुम जो उनके मोह में पड़ गई केवल एकबार देखकर तुम क्या समझती हो वैसी हँसी, मुस्कराहट, शरीर की सुन्दरता और उसका विकास, आँखो की बिजली और बालों का उन्माद उस कोटि का—इतने बड़े संसार में दूसरा न होगा? और तुम्हारी दानशील प्रवृत्ति वहाँ भी न उलझ जायगी?'

चन्द्रकान्ता रूढ़ियों का विरोध करती हुई कहती है—'...बहन तुम्हारा विधवापन तो रूढ़ियों का विधवापन है, वेदमंत्रों और ब्रह्म-भोज का—जिस पुरुष को तुमने देखा नहीं—जिसकी कोई धारणा तुम्हें नहीं, जिसकी कोई स्मृति तुम्हारी आत्मा को हिला नहीं सकी—उसका वैधव्य कैसा है?——

शा के मैन एण्ड सुपरमैन के ओक्टैवियस और टैनर के संवाद की आत्मा भी कुछ इसी तरह की है। ओक्टैवियस भावुक और रोमैंटिक हैं तो टैनर व्यावहारिक। यहाँ पर भी चन्द्रकला परम भावुक महिला है तो मनोरमा परम बुद्धिवादी। तर्क दोनों देती हैं—एक अपनी भावुकता के समर्थन में तथा दूसरी अपनी रूढ़िवादिता के पक्ष में। पाठक रूढ़िवादिता और भावुकता के बीच में किसका समर्थन करे, यह स्वयं एक अजीब समस्या है।

सच बात तो यह है कि मिश्र जी भारतीयता के कट्टर समर्थक हैं

और कभी कभी यह कट्टरता अपनी सीमा पार कर जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे विधवा-विवाह का तीव्र रूप से विरोध करने पर उतर आते हैं। उनका कहना है कि 'नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरुष के राग का माध्यम बनती है उसे जन्म भर उसी के साथ रहना है। इस कठोर नियम और मान्यता में उसके निजी प्रेम को हारना पड़ता है। जैसे 'मुक्ति का रहस्य' की आशा देवी अपने प्रेम के देवता उमाशंकर को छोड़कर अपने पतन के साथी डॉक्टर की सहगामिनी बनती है। इस नाटक में जो कहीं आशा उमाशंकर के साथ रह पाती तो वह पश्चिम के स्वतंत्र प्रेम की विजय उस भारतीय दाम्पत्य-विधान पर मानी जाती जिसमें नारी को जन्म भर एक पुरुष की बनकर रहना माना गया है।' यह भारतीय नारी की आदर्श कल्पना है। स्वयं इस देश का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर इस परंपरा की उपेक्षा होती रही है। परिस्थिति विशेष में स्वयं स्मृतिकारों ने विवाह विच्छेद की व्यवस्था दी है। विचारों की इस प्रगतिशील परंपरा को न ग्रहण कर मिश्र जी ने रूढ़ियों को ही यहाँ का चिरंतन विधान मान लिया है।

यद्यपि मिश्र जी के नाटक एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति करते हैं फिर भी शा के पात्रों की भाँति वे सब जगह कठपुतली नहीं बनाए गए हैं। सन्यासी का विश्वकान्त, मुरलीधर, मालती अपने अन्तर्द्वन्द्वों के कारण प्रायः मानवीय स्तर पर ही खड़े दिखाई पड़ते हैं। 'राक्षस का मंदिर' के मुनीश्वर, ललिता, रघुनाथ, अस्गरी सभी ऊहापोह के भँवर में पड़े हैं। 'मुक्ति का रहस्य' के डाक्टर और आशा देवी भी उसी तरह के पात्र हैं। हाँ, जहाँ पर ललिता, मालती और आशा देवी के चरित्र में मोड़ दिखाई पड़ता है वहाँ उनके चरित्र की स्वाभाविकता मारी जाती है। लगता है मानो लेखक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें दिशा विशेष में मोड़ दिया है।

इनके स्त्री-पुरुष पात्रों में प्रायः एक तरह की समानता भी मिलती

है। प्रधान स्त्री पात्र दो प्रेमियों के बीच डालकर कुछ इस तरह उलझा दी गई हैं कि वे एक से प्रेम करती हैं और दूसरे से विवाह। मुरलीधर, मुनीश्वर ऐसे सुधारकों की पोल बहुत व्यंग्यात्मक ढंग से खोली गई है। दो-एक पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र भावुक हैं, अतः इनके नाटकों में रसात्मकता का भी संनिवेश हो गया है।

पर 'सिंदूर की होली' के पात्र अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। वे बहुत कुछ मिश्र जी की मान्यताओं के अनुरूप गढ़े गए हैं। जन्म भर एक पुरुष के साथ रहने का सिद्धान्त इस नाटक में विशेष रूप से चरितार्थ हुआ है। मनोरमा और चन्द्रकला अपने विशेष ढंग से इसी सिद्धान्त का समर्थन करती हैं। बुद्धि का पूरा सहारा लेने पर भी दोनों अन्धविश्वासों से बुरी तरह आक्रान्त हैं। मनोरमा वेदमंत्र, शंखध्वनि और ब्रह्मभोज के साक्ष्य पर अपने वैधव्य का समर्थन करती है और इसे सेवा, त्याग, तपश्चर्या आदि का मार्ग बतलाती है। मनोरमा और मनोजशंकर का आध्यात्मिक परिणय जैनेन्द्र के परख उपन्यास की कट्टो और बिहारी के परिणाम की याद दिलाता है, जो बुद्धि को किसी तरह ग्राह्य नहीं होता। चन्द्रकला अपने प्रथम दर्शन के प्रेम के समर्थन में दुष्यन्त-शकुन्तला, नल-दमयन्ती और अज-इन्दुमती का नाम लेती है। इसकी भावुकता तो इस सीमा तक पहुँच गई है कि यह न्यूरोटिक पात्र प्रतीत होती है। इसमें भी अपने सिद्धान्तों के प्रति अटूट आस्था और अक्षय विश्वास दिखाई पड़ता है। मनोरमा और चन्द्रकला विवाह संबंधी दो सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती हैं—इसी दृष्टि से इनका निर्माण भी हुआ है। इसलिए स्वाभाविक था कि इन चरित्रों में मानवोचित आरोह-अवरोह नहीं दिखाई देता।

मुरारी लाल की मानसिक स्थिति के लिए यथोचित वातावरण प्रस्तुत किया गया है। मनोजशंकर एक कुंठाग्रस्त मनोवैज्ञानिक केस हो गया है। पिता के आत्मघात का रहस्य खुलने पर उसकी मनोग्रंथि

भी टूट जाती है। फिर भी उसका चारित्रिक विकास स्वाभाविक पद्धति पर हुआ है।

मिश्र जी नाटकीय विषय-वस्तु के प्रतिपादन में भारतीय परंपरा के पक्षपाती हैं तो टेकनीक के संबंध में आधुनिक यथार्थवादी नाट्य शैली के। शा अपने प्रतिपाद्य के संबंध में जितना सचेत रहा है उतना टेकनीक के विषय में नहीं। मिश्र जी सामाजिक समस्या के विवेचन-विश्लेषण के साथ ही कलात्मक दृष्टि से भी नाटकों को सँवारने का प्रयत्न करते रहे हैं।

प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया इनकी नाट्य रचना में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। 'मुक्ति का रहस्य' में वे लिखते हैं—'शेक्सपियर के नाटकों के साथ जब प्रसाद के नाटक रखे जायेंगे तब स्वगत की वही अतिरंजना, वही संवादों की काव्यमयी कृत्रिमता मनोविज्ञान या लोकवृत्ति के अनुभव का वही अभाव, संघर्ष और द्वन्द्व की वही आँधी...।' स्वगत की अतिरंजना और काव्यमयी भाषा का प्रयोग मिश्र जी ने नहीं किया है। संवादों में नाटकीय स्फूर्ति, लघुता और तीव्रता का विशेष ध्यान रखा गया है। वाक् वैदग्ध्य, हाजिरजवाबी, तर्क पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर आदि समस्या-नाटकों की विशेषताएँ हैं।

प्रसाद के नाटकों में कोई न कोई गीति-प्राण पात्र अवश्य है, पर मिश्र जी का कहना है—'मेरी राय में नाटक में गीत रखना कोई बहुत जरूरी नहीं है। कभी-कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं...नाटक में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ—जहाँ तक इसे जीवन में देख पाता हूँ।' सन्यासी की किरणमयी ही एक ऐसा पात्र है जो वातावरण विशेष में गाती दिखाई पड़ती है।

रंगमंच के संबंध में वे अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—'बार-बार परदा उठाना और गिराना रङ्गमंच को अस्वाभाविक बना देता है। रङ्गमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को

ऐसा न मालूम हो कि हम लोग किसी अजनबी जगह में आ किसी जादूघर में आ गए हैं। जिस स्वाभाविकता के साथ हम अपने घर में रहते हैं उसी स्वाभाविकता के साथ हमें रंगमंच पर भी रहना है—अथवा दूसरे शब्दों में रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास में बहुत विशेष अन्तर नहीं व्यक्त होना चाहिए...।' संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली आदि में यही पद्धति अपनाई गई है। मिश्र जी की नाट्यकला की सम्यक् विवेचना करने के लिए सिन्दूर की होली को सामने रखना अधिक उचित है क्योंकि कला की दृष्टि से अन्य नाटकों की अपेक्षा यह प्रौढ़तर रचना है। संन्यासी और राक्षस का मंदिर में दृश्य का जल्दी-जल्दी परिवर्तन नाटकीय अन्विति में बाधा उपस्थित करता है। 'मुक्ति का रहस्य' में एक अंक में एक ही दृश्य रखने का विधान पहली बार किया गया है। पर प्रवेश-प्रस्थान की अधिकता के कारण नाटक के वस्तु तत्त्व को ग्रहण करने में सामाजिक को काफी ध्यानावस्थित होना पड़ता है। सिन्दूर की होली में इस प्रकार की त्रुटि प्रायः नहीं मिलेगी। इसके प्रथम अंक में इस नाटक के सभी पात्र अपनी समस्याओं के साथ उपस्थित होते हैं। यद्यपि प्रत्येक की समस्या पृथक पृथक है फिर भी सब को रजनीकान्त के हत्याकांड से इस तरह संबद्ध कर दिया गया है कि वे सुशृंखलित हो गई हैं। प्रवेश और प्रस्थान के संबंध में भी इस नाटक में पर्याप्त सतर्कता से काम लिया गया है। सब के प्रवेश और प्रस्थान के मूल में कोई न कोई कारण अनुस्यूत है जो सर्वथा मनोवैज्ञानिक है।

दूसरे अंक में प्रथम अंक में उठाई गई समस्याओं को विवृत किया गया है। इसमें मुरारीलाल की व्याकुलता-पूर्ण मनः स्थिति, मनोज की मनोग्रंथि, मनोरमा का जीवन-दर्शन और चन्द्रकला का विक्षेप चित्रित किया गया है, जिससे प्रथम अंक में अंकित समस्याएँ पर्याप्त घनीभूत हो गई हैं। तीसरा अंक निष्कर्षात्मक अंश है जो

दूसरे अंक की विवृति का स्वाभाविक विकास है। यहाँ अंकों का विभाजन क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में न होकर कथा-वस्तु के विकास की विभिन्न सीढ़ियों के रूप में हुआ है।

समस्याओं पर विशेष ध्यान देने से कथोपकथन में एक तीक्ष्णता और मार्मिकता तो आ गई है पर कार्य-व्यापार का अभाव हो गया है। नाटकीय कथोपकथन और भाषणों तथा गोष्ठी-वार्ता में अन्तर होता है। नाटकीय कथोपकथनों में अभिनय-तत्त्व की निहिति अनिवार्य है पर यह कार्य-व्यापार का पर्याय नहीं है। शा के समस्या-नाटकों की भाँति मिश्र जी के नाटकों में भी कार्य-व्यापार की कमी दिखाई पड़ती है। कार्य-व्यापार नाटकीय स्थितियों (dramatic situations) से पैदा होते हैं, किंतु समस्या नाटकों में इन स्थितियों को विशेष महत्त्व नहीं मिल पाता। जहाँ कहीं इस प्रकार की स्थिति आती भी है वहाँ उसे पर्दे के पीछे घटित मान लिया जाता है। पर कार्य-व्यापार की इस कमी की पूर्ति मिश्र जी ने विचारों की प्रवाह-मयता और पात्रों के तर्क-पुष्ट उत्तर प्रत्युत्तर द्वारा की है।

कतिपय त्रुटियों के बावजूद भी हिन्दी-नाटक-साहित्य में मिश्र जी का ऐतिहासिक महत्त्व है। यह महत्त्व केवल नाटक को एक नई दिशा में मोड़ देने मात्र से ही नहीं है, और न तो हिन्दी नाट्य साहित्य को यथार्थवादी शैली से अभिमंडित करने से ही है, बल्कि मध्यवर्गीय समस्याओं (यद्यपि ये समस्याएँ बहुत ज्वलंत नहीं मानी जा सकतीं) में अपेक्षाकृत गहरे पैठने से भी है।

अन्यापदेशिक नाटक

अन्यापदेशिक नाटकों को नाट्य रूपक, प्रतीकात्मक नाटक और अध्यवसित रूपक भी कहा गया है। ये सब के सब शब्द अंग्रेजी के 'एलोगारिकल ड्रामा' के पर्यायवाची मानकर ही प्रयुक्त किए गए हैं। भिन्न-भिन्न आलोचकों ने इसके लिए भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग इसलिए किया कि उन्हें संस्कृत में इसके लिए कोई उपयुक्त नाम नहीं मिला। संस्कृत नाटकों के इतने अधिक भेदोपभेदों में 'एलोगारिकल ड्रामा' के लिए किसी नाम का न होना इस तथ्य का सूचक है कि संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय' के पूर्व इस तरह के नाटकों की उल्लेख्य परंपरा नहीं रही है। प्रबोध चन्द्रोदय के बाद इस श्रेणी के कुछ नाटक अवश्य लिखे गए पर नाट्य साहित्य में उन्हें उल्लेखनीय नहीं माना गया। सामान्यतः 'प्रबोध चन्द्रोदय' का रचना-काल ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध स्थिर किया गया है। इसलिए भरत के नाट्यशास्त्र और धनञ्जय के 'दश रूपक' में इस तरह के नाटकों को कोई नाम न देना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। विश्वनाथ प्रबोध चन्द्रोदयकार के लगभग एक शताब्दी बाद हुए हैं पर उनके 'साहित्यदर्पण' में भी इस तरह के नाटकों की कोई विशिष्ट कोटि नहीं निर्धारित की गई है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्यों ने इन ग्रन्थों को महत्त्व नहीं प्रदान किया।

हिन्दी में इस तरह के नाटक गिने गिनाए ही हैं किंतु उनके नामकरण का दायित्व हिन्दी वालों को उठाना ही पड़ा। इसे रूपक नहीं कहा जा सकता। एक तो रूपक समस्त नाटकों का बोधक है दूसरे अलंकार के रूप में प्रयुक्त होने पर इसमें दो वस्तुओं का जो

अतिशय साम्य स्थापित किया जाता है वह इस प्रकार के नाटकों में संभव नहीं है। यदि इसे नाट्य रूपक की संज्ञा दी जाय तो 'कामना' में वे कौन-सी दो वस्तुएँ हैं जिनमें साम्य स्थापित किया गया है? कामना और विलास आदि के लिए क्या प्रतीक रखे गए हैं? कामना और विलास स्वयं कामना और विलास हैं। प्रतीक-योजना में भी दो वस्तुओं में धर्म, प्रभाव आदि का साम्य होता है। अध्यवस्थित का अर्थ है—'मानसिक निश्चय' और यह अंग्रेजी के एलोगरी का अर्थ देने में अशक्त हैं। अन्यापदेश की अर्थ-व्याप्ति के भीतर मानवीकृत विचार और भावना तथा उनके प्रतीक दोनों गृहीत होते हैं। प्रसाद की कामना और पंत की ज्योत्सना दोनों को इसके अन्तर्गत समेटा जा सकता है। यों इसे कोई अन्यदेशिक कहना चाहे तो कह सकता है।

इस तरह के नाटकों की मुख्य प्रवृत्ति होती है—किसी दार्शनिक, सांस्कृतिक या पांडित्यपूर्ण चिंतन के चित्रण की। नाटककार जान-बूझकर दार्शनिक उपपत्तियों को नाटक की रेखाओं में बाँधने का प्रयास करता है। पर दार्शनिक सिद्धांतों को नाटक का रूप देना अत्यंत कठिन है।

भावनाओं और विचारों के मानवीकरण द्वारा जो चरित्र प्रस्तुत किए जाते हैं उनके व्यक्तित्व इतने क्षीण और अमांसल होते हैं कि सामाजिकों के लिए वे प्रायः अनाकर्षक हो जाते हैं। इन चरित्रों को लेखक अत्यंत सजग भाव से ऐसी तार्किक पद्धति और अनुक्रम से सजाता है कि वे उसकी पूर्व निश्चित योजना के अंग बन जाते हैं। पर जीवनगत तथ्यों से असंपृक्त होने के कारण इनमें जीवन के सरस-स्रोत का न मिलना स्वाभाविक है।

जब इन नाटकों में सीधे किसी नैतिकता और धार्मिकता को प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है, जैसा संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' और देव के 'देवमाया प्रपंच' में हुआ है तब नाटक की अरोचकता

और भी बढ़ जाती है। यदि नाटककार प्रतीकों के व्यापारों और चरित्र-चित्रण को मानवीय स्पर्श देता है तो नाटक में वास्तविकता का एक हल्का रंग आ जाता है। ऐसी स्थिति में यह अपेक्षाकृत किंचित रोचक प्रतीत होने लगता है।

हिन्दी के अन्यापदेशिक नाटक—कामना, ज्योत्सना और नवरस—'प्रबोध-चन्द्रोदय' और 'देवमाया प्रपंच' के उतने निकट नहीं हैं जितने अंग्रेजी के मोरेल्टी प्लेज के। इनके लेखकों ने 'मिस्ट्री-प्लेज' से आगे बढ़कर न्यूनाधिक्य मात्रा में उन्हें जीवन के निकट ले आने का प्रयास किया है, उनमें समसामयिक समस्याओं का पुट देने की चेष्टा की है। 'कामना' में समसामयिक समस्याओं के प्रचुर संकेत मिलते हैं, ज्योत्सना बहुत कुछ वायवी होते हुए भी उनसे सर्वथा रिक्त नहीं है। नवरस में स्पष्ट रूप से सत्य अहिंसा और युद्ध की समस्या ही है।

कामना

कामना के प्रारंभ के पहले ही एक पृष्ठ पर ईशोपनिषत् और महाभारत की सूक्तियाँ दी गई हैं—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

—ईशोपनिषत्

नैव राज्यं न राजासीन्नचदण्डो न दण्डिकः।
धर्म्मेणैव प्रजाः सर्व्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्॥
पाल्यमानास्तथाऽन्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्॥

—महाभारत

वस्तुतः ये ही पंक्तियाँ कामना के प्रेरणा-स्रोत हैं। ईशोपनिषत् की पंक्ति का अभिप्राय है कि हिरण्यमय पात्र से सत्य का मुख ढँका है। महाभारत के श्लोक का भाव यह है कि पहले न तो राज्य था

और न राजा; न दंड-विधान था और न दंड देने वाला। धर्म से ही प्रजा परस्पर रक्षा करती थी। दैन्य को प्राप्त होने पर वह मोहाविष्ट हो गई।

कामना के चित्रों की रेखाएँ ये ही हैं, उसमें अपेक्षित प्रभाव लाने के लिए प्रसाद ने मनोनुकूल रंग भरे हैं। स्वर्ण और मदिरा की लालसा से समस्त देश का सुख-संतोष नष्ट हो जाता है, उसकी सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, नैतिक आदर्श गिर जाते हैं। विवेक और संतोष के अथक परिश्रम के पश्चात् हिरण्यमय पात्र हटता है और द्वीप-निवासियों को सत्य के दर्शन होते हैं।

'कामना' में उस संस्कृति और व्यवस्था को श्रेष्ठ माना गया है जिसमें न राजा था न राज्य, न दंड था और न दंडिक। धर्म से ही प्रजा पारस्परिक रक्षा करती थी। प्राकृतिक जीवन व्यतीत करती हुई इस जाति को महत्त्व और आकांक्षा, अभाव और संघर्ष का पता ही नहीं था। पर विलास के स्वर्ण के प्रलोभन में फँस कर तारा की संतानों का पतन प्रारम्भ हो गया। विलास ने कामना को इस देश की रानी बनाया और दंड तथा दंडिक का विधान भी किया। दंड और व्यवस्था के नाम पर, सोना और मदिरा के प्रलोभन में फँसकर, देश में अपराधों की वृद्धि होने लगी। फिर तो कठोर राज-तंत्र ने अपराधी-निरपराधी सभी को शासन की चक्की के नीचे बुरी तरह पीसना आरम्भ किया। अंततोगत्वा संतोष और विवेक के प्रयास से राज-तंत्र भंग होता है और प्रजा में सुख-शांति लौट आती है। जहाँ तक मानसिक जगत का संबंध है लेखक का मुख्य प्रतिपाद्य है कि विलासोन्मुख कामना को शांति नहीं मिल सकती संतोष और विवेक से नियंत्रित कामना ही सुखी और प्रसन्न रह सकती है।

जैसा ऊपर संकेतित किया जा चुका है कि इस नाटक में कुछ अंग्रेजी के मोरेल्टी प्लेज की भाँति राजनीतिक समस्याएँ भी उठाई गई हैं। प्रसाद जी इस नाटक में उसी मार्क्सीय यूटोपिया—अराजकता

की स्थिति—का समर्थन कर रहे हैं जिसमें किसी प्रकार की शासकीय व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। पर सिद्धांत उनको सीधे मार्क्सीय दर्शन से न प्राप्त होकर महाभारत से प्राप्त हुआ है।

इससे यह न समझना चाहिए की मार्क्सीय दर्शन का जो स्वर इसमें सुनाई पड़ता है वह उसकी प्रक्रियाओं की भी पुष्टि करता है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्सीय दर्शन और कामना के प्रतिपाद्य का आखिरी लक्ष्य मोटे रूप में एक ही है। पर जहाँ एक भौतिकवादी तत्वों में पूर्ण आस्था रखते हुए अनेक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से गुजर कर अराजकता तक पहुँचने की कामना करता है वहाँ दूसरा भौतिकवादी संस्कृति पर ही प्रहार करता है और आध्यात्मिकता के सहारे वहाँ तक पहुँचता है। कामना में व्यक्त प्रसाद का दर्शन गाँधी-दर्शन के अधिक निकट और अनुकूल है।

आज के प्रत्येक प्रश्न के मूल में अर्थ का प्राधान्य है, इसे प्रसाद जी ने स्वीकार किया है। करुणा कहती है—'जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य है। मैं दूर से उन धनियों के परिवार का दृश्य देखती हूँ। वे धन की आवश्यकता से इतने दरिद्र हो गए हैं कि उसके बिना उनके बच्चे भी उन्हें प्यारे नहीं लगते।' प्रकृति से दूर होने पर नागरिक-सभ्यता के विकास का यह स्वाभाविक परिणाम है। धन के प्रलोभन में सभी नागरिकों में होड़ लगी हुई है, पर थोड़े से व्यक्ति उस पर अधिकार जमाकर शेष मनुष्यों को दास बनाए बैठे हैं। इन्हीं सीमित लोगों के लिए ही तो नियमों का निर्माण होता है। बाईबिल के सिद्धान्त Covet not thy neibours wealth के मूल में भी तो यही है, जिससे धनी पड़ोसी की किसी प्रकार की क्षति न हो सके। कामना का विवेक अपराधों का विवेचन करते हुए एक स्थान पर कहता है—'अपराध क्या पदार्थ है? क्षुद्र स्वार्थों से बने हुए कुछ नियमों का भंग करना अपराध होगा। यही न।'

फिर तो अपराधों के नियमन के लिए व्यवस्था और व्यवस्थापक की आवश्यकता होती है, सहज धर्म का लोप हो जाता है। संस्कृत और सभ्यता के नाम पर गगन स्पर्शी महलों का निर्माण किया जाता है, पापाचारों के अड्डों की वृद्धि होती है। श्रेणी-भेद और स्वेच्छचारिता को खुली छूट मिल जाती है। इस प्रकार कृत्रिम जीवन के पीछे सारा समाज अप्रतिहत गति से दौड़ने लगता है। महत्वाकांक्षा और बाह्य सुख-शांति के पीछे मनुष्य अपनी आन्तरिक सुख-शांति को खो बैठता है।

नागरिक जीवन की कृत्रिमता में प्रसाद जी को विश्वास नहीं है और न उसके आनन्द की परिभाषा ही उन्हें स्वीकार्य है। वे बाह्याडंबर से मुक्त प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में ही शांति का निवास मानते हैं, जहाँ न वाक् छल के लिए कोई अवकाश है और न स्वर्ण-संचय की कोई आवश्यकता। आनन्द को वे मन की वस्तु मानते हैं जो संतोष से नियंत्रित और विवेक से पुष्ट होता है।

इस प्रकार के अन्यापदेशिक नाटकों के पात्रों में मानवीय मांसलता प्रायः अत्यंत क्षीण दिखाई पड़ती है। फिर भी कामना, विलास, लीला, संतोष, विवेक को जो कुछ व्यक्तित्व प्रदान किया गया है वह मानवीय यथार्थता का स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि क्रूर, दुर्वृत्त, प्रमदा और दंभ कोरे प्रतीकात्मक पात्र हैं फिर भी वे नागरिक सभ्यता पर जो व्यंग्य करते हैं वे अत्यंत मार्मिक बन पड़े हैं। दंभ संस्कृति और सभ्यता के संबंध में शोर मचाने वाले महापुरुषों का प्रतीक है तो दुर्वृत्त व्यवस्था देने वाले व्यवस्थापकों का। प्रमदा आज की सभ्यता में पत्नी नारी का नाम है।

कथोपकथन की दृष्टि से यह नाटक प्रसाद के अन्य नाटकों से भिन्न है। इसमें न आलंकारिकता का बोझ है और न दार्शनिकता का दबाव। संवादों में पात्रों और प्रसंगों की अनुकूलता पर बराबर ध्यान दिया गया है। प्रसंगों के अनुकूल भावोच्छ्वास और व्यंग्य

की सृष्टि इस नाटक की अपनी विशेषताएँ हैं। तीसरे अंक के पाँचवें दृश्य में नई सभ्यता में पला लड़का अपने बाप से कहता है—'पहले एक प्याली मदिरा, फिर दूसरी बात।' पिता के यह कहने पर कि तुझे लज्जा नहीं आती वह निर्लज्ज भाव से पुनः कह उठता है—'तो माँ से कह दो दे जाय।' इस छोटे से वाक्य में कितना मार्मिक व्यंग्य है। भावोद्वेग में आकर जब संतोष कामना से कुछ कहने लगता है तब उसके कथन में काव्योपमता सहज में ही आ जाती है—'...रमणी का रूप—कल्पना का प्रत्यक्ष—संभावना की साकारता और दूसरे अतीन्द्रिय रूप-लोक, जिसके सामने मानवीय महत् अहम्-भाव लोटने लगता है। जिस पिच्छल भूमि पर स्खलन विवेक बन कर खड़ा होता है। जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनन्द-निकेतन देखकर पूर्ण वेग से धमनियों में दौड़ने लगता है।...'

संविधानक सौष्ठव की दृष्टि से कामना में पर्याप्त स्वच्छता और कौशल का संनिवेश हुआ है। तीन अंकों में विभक्त नाटक का प्रत्येक अंक दूसरे से संबंद्ध है। प्रथम अंक में विवेक क्षुब्ध होकर भाग जाता है। विवेक के भाग जाने पर—बुद्धि नाशात् प्रणश्यति के अनुसार—देश में अनेक प्रकार का अनाचार फैल जाता है। दूसरे अंक में इन्हीं अनाचारों को विषय-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। इसके फलस्वरूप तीसरे अंक में क्रूर, दुर्वृत्त, प्रमदा और दंभ का प्रवेश होता है। इसके बाद में विभिन्न दृश्यों द्वारा देश की दशा के बड़े प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं; जैसे, खेत में करुणा की कुटी, फूलद्वीप में एक नागरिक का घर, नवीन नगर की एक गली, आक्रांत देश का एक गाँव, आदि। किंतु अंत में कामना को संतोष के पथ पर जिस ढंग से मोड़ा गया है वह कथा के क्रमिक विकास में विक्षेप डालता है। ऐसा एक विशेष जीवन-दर्शन के आग्रह के कारण ही हुआ। यद्यपि इसके लिए अनेक ऐसी घटनाओं की योजना की गई है जो इस मोड़ को अमनोवैज्ञानिक न होने दें फिर भी यह

प्रयास कला का अंग नहीं बन पाया है। डा० नगेन्द्र के इस मत में काफी सार है कि कामना ट्रेजिडी के रूप में अधिक सफल होती।

ज्योत्सना—

'कामना' जीवन की वास्तविकता का स्पर्श कई स्थानों पर करती है पर ज्योत्सना जीवन से काफी दूर छायावादी कवि की उदात्त कल्पना है। एक अतीत की श्रेष्ठता स्वीकार करती हुए वर्तमान की समस्याओं का विवेचन करती है तो दूसरी भावी समाज के आदर्शों को गढ़ती हुई वर्तमान समस्याओं से प्रायः अछूती रह जाती है। इसीलिए पहली में जहाँ भाव और बौद्धिकता के समन्वय का प्रयास दिखाई पड़ता है वहाँ दूसरी कृति में बुद्धि-विलास के चित्रण का।

अंध-विश्वास और रूढ़ियों से जर्जर, तथा अनेक विरोधी शिविरों में बँटे विश्व को नवीन जीवन-आदर्श और नूतन आलोक देने के निमित्त इंदु अपनी रानी ज्योत्सना को कोमल रेशमी किरणों के सहारे धरती पर उतारता है। ज्योत्सना स्वप्न और कल्पना द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न हो जाती है। स्वप्न और कल्पना को समझाती हुई ज्योत्सना कहती है—'...इस बुद्धिवाद के भूल भुलइए में खोई हुई, जड़वाद, सापेक्षवाद, विकासवाद आदि अनेक वाद-विवादों की टेढ़ी-मेढ़ी पेचीली गलियों में भटकी हुई, नास्तिकता और संदेहवाद से पीड़ित, पशुओं के अनुकरण में लीन मानवजाति का परित्राण करना है। उसकी आँखों के सामने जीवन का नवीन आदर्श, सौन्दर्य का नवीन स्वप्न, स्नेह-सहानुभूति एवं समत्व का नवीन प्रकाश, सुख और शांति का नवीन स्वर्ग निर्माण करना है। उसे प्रेम के अधिक विस्तृत राजमार्ग पर चलाना है। धर्मांधता, रूढ़ि-प्रियता, प्रेतपूजा, निर्मूल प्रथाओं एवं निरर्थक रीति-नीतियों के बंधन से मुक्त करना है।...उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है।' फिर तो

स्वप्न और कल्पना मनुष्य के मनोलोक में प्रविष्ट होकर उनकी तामसी वृत्तियों को सात्वकता में बदल देते हैं और धरती पर प्रेम, दया, समता आदि उदात्त गुणों से युक्त नया स्वर्ग उतर आता है।

जहाँ तक नाटकीय टेकनीक का प्रश्न है अन्यापदेशिक नाटक यों ही कमजोर होता है, ज्योत्सना तो और भी कमजोर है—काफी कमजोर है। कथानक से शून्य, क्रिया से विरहित वायवी ताने-बाने से बुना नाटक दार्शनिक ऊहापोहों में उलझकर रह गया है। चरित्रों की मांसलता को कौन कहे, कुछ पात्रों की प्रतीकात्मकता भी स्पष्ट नहीं हो पाई है। इंदु, ज्योत्सना, पवन किन भावों के प्रतीक हैं?

वर्तमान समाज की जो समस्याएँ इसमें उठाई गई हैं उनका हल बौद्धिक न होकर एकदम काल्पनिक है। इसलिए बौद्धिकता का आभास तो यहाँ दिखाई पड़ेगा स्वयं बौद्धिकता नहीं। इसके अभाव में नाटक की दार्शनिकता कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। अपने दृश्य-विधान और गीतों के कारण ज्योत्सना का मूल्य अवश्य है पर दृश्य-विधान और गीतों पर भी भावोद्दीपन-क्षमता की जगह कल्पना और अलंकृति का लदाव अधिक हो गया है।

इस प्रकार के दो-एक नाटक हिन्दी में और लिखे गए, पर इसकी परंपरा आगे न चल सकी। इसे हिन्दी के लिए शुभलक्षण समझना चाहिए। चाहे दृश्य-काव्य हो अथवा श्रव्य-काव्य किसी का भी जीवन से कट कर जीना संभव नहीं है। भावों का पल्ला छोड़ कर साहित्य जीवित नहीं रह सकता। कोरी बौद्धिकता, कल्पना-क्रीड़ा और अलंकृति के चमत्कार में सहृदय बहुत दिनों तक भूले नहीं रह सकते।

गीति-नाट्य

पश्चिम में सन् १६२० के बाद नाटक तथा रंगमंच के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई देने लगता है। इस परिवर्तन के मूल में एक ओर प्रकृतवादी और यथार्थवादी नाटकों की प्रतिक्रिया निहित थी, तो दूसरी ओर सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव का सामने करने की प्रवृत्ति। इब्सन की यथार्थवादी प्रवृत्ति शा में अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच गई। प्रथम महायुद्ध की कटुताओं ने भी जनता के रस-स्रोत को और भी शुष्क बना दिया। फल यह हुआ कि नाटकों को नया मोड़ लेना पड़ा और गीति-नाट्यों की रचना होने लगी। आधुनिक इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि कवियों में—ईट्स, ईलियट, आडेन, स्टीफन स्पेंडर आदि ने—इस दिशा में उत्साहपूर्ण योग दिया है।

सुप्रसिद्ध अमरीकी कथाकार समरसेट मॉम ने नाटकों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए कहा है कि "**गद्य-नाटक, जिनमें हमारी जिन्दगी के काफी वर्ष लगे हैं, शीघ्र ही काल-कवलित जायँगे।**"[१] मॉम की भविष्यवाणी आंशिक रूप से सत्य सिद्ध हो रही है। आज अंग्रेजी रंगमंच से शा का प्रस्ताव मिटता जा रहा है। सच पूछिए तो शा

---

१. "...but I cannot but state my belief that the prose drama to wnich I have given so much of my life will soon be dead."

—Maugham, The Summsng up, Penguin Books, P. 101

अपनी रंगमंचीय विशेषताओं के कारण प्रतिष्ठित नहीं हुआ है, बल्कि निजी और मौलिक सनकों (indiosyncrasies) के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है। रंगमंचों पर उसके नाटकों का अभिनय बहुत सफल नहीं माना गया है। वास्तविकता यह है कि मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ शुष्क यथार्थवाद की चौहद्दी में बहुत दिनों तक बँधी नहीं रह सकतीं। किसी-न-किसी रूप में उन्हें सन्तुष्ट करना ही होगा। देश और काल की सीमाओं को पार कर कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों के जीवित रहने का रहस्य इसी में है कि वे मानवीय भावों से संयुक्त तथा जीवन के रस से ओत प्रोत हैं। सिनेमा से आधुनिक रंगमंच को जो गहरा धक्का लगा है उसका मुख्य कारण यह है कि उसमें प्राचीन नाटकों के नृत्य, गीत और काव्योचित वातावरण को यथोचित रीति से सन्निविष्ट कर उसे अत्यन्त आकर्षक ढंग से उपस्थित किया गया है।

मॉम ने नाटक और सिनेमा की तुलनात्मक चर्चा करते हुए कहा है कि नाटक का मूल आधार क्रिया-व्यापार है, पर इस क्रिया-व्यापार को नाटक की अपेक्षा सिनेमा के पर्दे पर अधिक अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। नाटक के समर्थकों के इस कथन में कि रंगमंच पर जीवित मनुष्यों के साक्षात्कार से जो रसात्मक अनुभूति प्राप्त होती है वह चित्र-पटों के छाया-चित्रों में नहीं उपलब्ध हो सकती, मॉम को विश्वास नहीं है।

सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए सन् १६२० के पूर्व ही इटली-निवासी भविष्यवादी मैरिनेट्टी (Marinetti) ने रंगमंच को नया रूप देने का प्रयत्न किया था। सिनेमा की प्रभावशाली चित्रशालाओं की भाँति उसने नाटकों से अंक और दृश्यों को हटाकर उन्हें अनेक लघु मनोरंजक घटनाओं में विभक्त कर दिया। सिनेमा के चामत्कारिक प्रदर्शनों (spectacular shows) को रंगमंच पर उतारने की दृष्टि से ही मैरिनेट्टी ने नवीन उपायों की योजना की

थी। लेकिन सिनेमा के आगे यह नया रंगमंचीय कौतुक ठहर नहीं सका। अपने अभिनव प्रवर्तनों के बावजूद भी रंगमंच सिनेमा के आगे हतचेत हो गया। मॉम ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि **"सिनेमा जीवन के अन्तरंग को चित्रपट पर सफलतापूर्वक नहीं व्यक्त करता, क्योंकि उसके लिए शरीरी क्रिया-व्यापार अधिक आवश्यक होता है। इसलिए यथार्थवादी नाटककारों को इस दिशा में मुड़ना चाहिए।"**[१] स्पष्ट है कि मॉम का संकेत गीति-नाट्यों की ओर है।

सिनेमा और नाटक का प्रश्न कुछ पुराना-सा पड़ गया है। लेकिन इस सम्बन्ध में हमें कुछ दूसरे ढंग से विचार करना होगा। यों तो ब्रिटेन में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो सिनेमा और नाटक का सह-अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[२] हमारे देश की स्थिति अमेरिका और ब्रिटेन से भिन्न है। ब्रिटेन और अमेरिका से ही क्यों, पूरे पश्चिम से हमारे देश की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ भिन्न हैं। इसलिए आज जो उस गोलार्ध की साहित्यिक स्थिति है वह हमारे देश पर ज्यों-की-त्यों लागू नहीं हो सकती। पश्चिम की भयंकर यथार्थवादिता हमारे देश को प्रभावित अवश्य

---

१. "Perhaps the best chance the realistic dramatist has today is to occupy himself with what, till now at all events, the screen has not suceeeded very well in presenting—the drama in which the action is inner rather than outer and the comedy of wit. The screen demands physical action."

—Maugham, the Summing up, Penguin, P. 101-2

२. The cinema and the theatre may well exit side by side; appreciation for the art of the one need not be antagonistic to an appreciation for the art of the other.—Nicoll, British Drama.

कर सकी है, लेकिन अपनी पूर्ण नग्नता में यहाँ पर वह प्रविष्ट नहीं हो पाई है। हिन्दी में कितने यथार्थवादी नाटक हैं? उनमें कितने अपने यहाँ की समस्याओं को चित्रित करते हैं? यहाँ पर उनकी प्रतिक्रिया की कोई बात नहीं उठती। इस विशाल कृषि-प्रधान देश के लिए नाटक और रंगमंच की आवश्यकता सर्वदा बनी रहेगी। रूसी जनता अमेरिका और ब्रिटेन की तरह नैराश्यजनक स्थिति में न होकर रंगमंच के प्रति अत्यधिक उत्साहित दिखाई पड़ती है। इसलिए सिनेमा से भयभीत होकर गीति-नाट्यों के क्रोड में मुँह छिपाना हमारे लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

लेकिन अपने आप में गीति-नाट्य तिरस्करणीय है, यह हमारा अभीष्ट नहीं है। यथार्थवादी नाटकों की भाँति गीति-नाट्यों में जीवन के विविध सूत्रों और समस्याओं को लेखक अपने व्यक्तित्व में एकान्वित नहीं कर सकता और न जीवन के सघन क्षणों को गद्य के माध्यम से पूरी अभिव्यक्ति दे सकता है। इस प्रकार के क्षणों को कविता की भाषा में ही वाणी मिल सकती है।[1] लेकिन गीति-नाट्यों के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि इसमें नाटककार परिवेश-निरपेक्ष होकर अपनी अन्तर्वृत्तियों से ही परिचालित होता है, और चरित्रों को हमारे समीप नहीं ले आता है। वह जगत् की ठोस वास्तविकताओं से किनारा कसता है और हमको इनसे काफी दूर फेंक

---

१. "It will only be poetry when the dramatic situation has reached such a point of intensity that poetry becomes the natural utterance, because then it is the only language in which the emotions can be expressed at all."

—T. S. Eliot, Selected Prose, Penguin Books, p. 70.

आता है*, किन्तु गीत-नाट्यों में अतिशय वैयक्तिकता के प्रतिफलन को अनिवार्य मान लेना आवश्यक नहीं है। गीति-नाट्य मुख्यतः भावनामय होते हैं; उनमें बहिःसंघर्षों की अपेक्षा अन्तःसंघर्षों की प्रधानता होती है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन की कठोर वास्तविकताओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। पहले तो अन्तःसंघर्षों को बहिःसंघर्षों से पृथक् करके देखना स्वयं अ-मनोवैज्ञानिक है। अन्तःसंघर्षों की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। समाज से पृथक् किसी एकान्तसेवी व्यक्ति का हृदय अन्तःसंघर्ष-शून्य होगा ऐसी स्थिति में अन्तर्बाह्य संघर्ष में एक सामंजस्य स्थापित करना होगा। यह बात दूसरी है कि गीति-नाट्यों में बाह्यसंघर्ष के संकेतित होने का अवकाश प्रायः नहीं मिलता।

हिन्दी में इस तरह के गीत-नाट्यों के प्रथम पुरस्कर्ता होने का श्रेय प्रसाद को है। यदि आज के समस्त ज्ञान-विज्ञान के आदि स्रोत को वेदों में ढूँढ़ निकालने की प्रतिज्ञा छोड़ दी जाय तो कहना न होगा कि गीति-नाट्य आधुनिक युग की देन है। संस्कृत-नाटकों में पद्य की बहुलता होते हुए भी एक भी नाटक ऐसा नहीं मिलेगा जो आद्यन्त पद्य में हो। अंग्रेजी में भी गीति-नाट्यों का क्रमबद्ध इतिहास १६ वीं शताब्दी के अन्त से ही प्रारम्भ होता है। प्रसाद को 'करुणा-लय' लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली, इसके सम्बन्ध में निश्चित

---

*. "There is however another kind of drama, poetic drama, in which the dramastist is trying to pluck his individual from the mass, and set him against the background of like itself. The individual is not controlled by the necessities of his environment, but by some inward law of being. It is the wish of the poetic dramatist not to bring his characters near to us, not to impress upon us the concrete realities of the world, but to distance us from them."—Priscilla Thoulers, Modern Poetic Drama, p. 9.

रूप से नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि इसके प्रणयन के मूल में बंगीय गीति-नाट्य हों। 'करुणालय' में छपी 'सूचना' से ज्ञात होता है कि उन्होंने अंग्रेजी के ब्लैंकवर्स और बंगला के अमित्राक्षर छन्द से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की थी।

'करुणालय' का कथानक एक पौराणिक कथा के आधार पर निर्मित हुआ है। इस गीति-नाट्य में प्रसाद के विकास के अनेक सूत्र खोजे जा सकते हैं। आगे चलकर इनकी कृतियों में जिस आनन्दवाद, जीवन, जीवन के प्रति एक अडिग आस्था, आसुरी आचार के प्रति घृणा, प्रेम की शुभ्र ज्योति आदि के जो रमणीय चित्र मिलते हैं उनका आदि उत्स इसी रचना में देखा जा सकता है। पर गीति-नाट्य का मूल तत्त्व मानसिक संघर्ष इसमें कम ही चित्रित हो सका है। यद्यपि मानसिक संघर्ष के चित्रण की दृष्टि से 'करुणालय' की कथा की युक्तियुक्तता में किसी प्रकार की कमी नहीं है, तथापि प्रारम्भिक कृति होने के कारण उसका उचित उपयोग नहीं किया जा सका है।

अन्य पात्रों की अपेक्षा रोहित में अन्तर्द्वन्द्व का समावेश अधिक हुआ है किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् वह समाप्त हो जाता है। उसे एक ओर पिता की आज्ञा का पालन करना है तो दूसरी ओर अपनी जीवन-रक्षा का प्रयत्न। इन्द्र की प्रेरणा से उसे जीवन-रक्षा का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ, पर पिता के आज्ञा-पालन का भी उसने एक उपाय निकाल ही लिया। हरिश्चन्द्र के अन्तःसंघर्ष में कोई दम नहीं है। नाटक के अन्त में शुनःशेप की करुण पुकार और अजीगर्त की क्षुधाजन्य पशु-प्रवृत्ति का जो संगम हुआ है वह नाटकीय संघर्ष की चरम सीमा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, पर इसका यथोचित निर्वाह नहीं हो पाया है।

गुप्तजी के 'अनघ' का रूप-शिल्प गीति-नाट्य का है, पर आत्मा संवादात्मक काव्य की। 'मुझे है इष्ट जन सेवा' से अनुप्राणित यह गीति-नाट्य गांधीवादी जीवन-दर्शन के स्थूल आदर्शों से आगे

बढ़कर आन्तरिक संघर्षों के सूक्ष्म स्तरों तक नहीं उतर पाया है। मघ, जो इस नाट्य का प्रधान पात्र है, वह केवल टाइप बन सका है सुरभि के रूप-सौरभ और ममतामयी माँ के स्नेह से भी वह भावनामय नहीं हो पाता। अतः उसे मानवीय व्यक्तित्व नहीं मिल सका है। ग्रामभोजक का व्यक्तित्व भी आद्यन्त एकरस और अनाकर्षक है। सुरभि में अन्तःसंघर्षों का आरोह-अवरोह दिखाई देता है, पर मघ के सिद्धान्तों की गहरी छाया में उसका व्यक्तित्व पनप नहीं सका है। कथा-वस्तु पूर्व-निर्धारित होने के कारण बहुत-कुछ यांत्रिक हो गई है। सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और प्रेमी का 'स्वर्ण-विहान' 'अनघ' की परम्परा में ही आते हैं।

तारा

भगवतीचरण वर्मा के 'तारा' नाट्य की वही समस्या है जो उनके 'चित्रलेखा' उपन्यास की। 'तारा' में यौवन-जन्य उद्दाम वासना का उल्लेख करते समय सामाजिक परिवेश को भी ध्यान में रखा गया है, जब कि 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य की समस्या तर्क की कसौटी पर कसी गई है। 'तारा' में सामाजिक बन्धनों की अव-हेलना के कारण बृहस्पति का अभिशाप तारा और चन्द्रमा को जड़ बना देता है, जो पौराणिक दृष्टि से युक्तियुक्त कहा जा सकता है, पर मानवीय तथा नाटकीय दृष्टि से उसका महत्व नहीं आँका जा सकता।

गीति-नाट्यों का मूल प्रेरक तत्व—अन्तर्द्वन्द्व—इस नाटक में आद्यन्त विद्यमान है। प्रथम दृश्य में ही तारा एक ओर यौवन की मादकता से विकल तथा दूसरी ओर कर्त्तव्य और 'आराधना' के बन्धनों से बद्ध है। इन दोनों के बीच एक संघर्ष चल रहा है। उसके मन में प्रश्न उठता है कि उसे किसकी आराधना करनी चाहिए?—अन्तःप्रकृति या मनोभावों की अथवा स्वामी (बृहस्पति) के पूज्य चरण-रज की। बृहस्पति के प्रति उसके मन में भक्ति है, पूज्य भाव

है। पर उसे जिस प्रेम की उत्कट चाह है यह बृहस्पति में नहीं प्राप्त हो सकता। वह कहती है—

> **मुझे चाह है रस की, पावन प्रेम की**
> **उस विस्मृति की, उस अनन्त संगीत की**
> **जिसमें निज ममत्व को सहसा भूलकर**
> **हो जाऊँ मैं मग्न, और कर दे मुझे**
> **प्रबल प्रेरणा प्रथम प्रेम की प्रवाहित**
> **मादकता के विस्तृत तीव्र प्रवाह में**

बृहस्पति तारा का वचन सुनकर चमत्कृत हो जाते हैं और उसे समझाते हुए कहते हैं—**तृष्णा का प्राबल्य, पाप की वासना, इनका दमन—हमारा कर्त्तव्य है।** इसके अनन्तर निवृत्ति-मार्गियों की भाँति वे वैभव, सुख, ऐश्वर्य और भोग को काल्पनिक और अस्थायी तथा वासना को जीवन के अधः-पतन का मूल बतलाते हैं। थोड़ी देर के लिए तारा तर्कहीन होकर स्वामी के चरणों में प्रणत हो जाती है, पर तारा के मनोभावों तथा तर्कों के प्रभाव से अभिभूत होकर बृहस्पति भी सोचने लगते हैं—**पुण्य शुष्क है, रसमय केवल पाप है।**

आज की मान्यताओं पर फ्रायड का गहरा प्रभाव है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मानवीय व्यक्तित्व (परसनैलिटी) के जिन तत्त्वों की जो विवेचना फ्रायड ने की है उसने हमारी परम्पराभुक्त नैतिक मान्यताओं को बहुत दूर तक झकझोर दिया है। उपर्युक्त पौराणिक कथा को इसी मनोवैज्ञानिक परिदृश्य में देखा गया है। तारा में इदम् और नैतिक मन का ही संघर्ष है और बृहस्पति नैतिक मन की दुहाई देकर तारा के उद्वेग को दूर करना चाहते हैं।

दूसरे दृश्य में चन्द्रमा के प्रश्न **'गुरुवर क्या है पुण्य और क्या पाप है?'** का उत्तर देते हुए बृहस्पति कहते हैं—

> **पाप? पाप क्या है? मनुष्य की भूल है,**
> **है समाज के नियमों की अवहेलना,**

एक परिधि है आकांक्षा की, चाह की,
उसके भीतर रहकर चलना पुण्य है,
उसके बाहर गए और बस पाप है।

फिर वासना की व्याख्या करते हुए बृहस्पति के मुख से निकल पड़ता है कि 'प्रकृति स्वयं है, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं।' इसके अनन्तर बृहस्पति साधन की पवित्रता और सामाजिक बन्धनों के प्रति सजगता की चर्चा करते हैं। चन्द्रमा के मन में रह-रहकर बृहस्पति की एक ही बात गूँज उठती है—'प्रकृति स्वयं है पाप-पुण्य कुछ भी नहीं।'

तृतीय दृश्य में भी इदम् और नैतिक मन का ही द्वन्द्व है। यह अन्तःसंघर्ष एक ओर जहाँ चन्द्रमा के मन में चल रहा है वहाँ दूसरी ओर तारा के मन में भी। अन्त में नैतिक मन की पराजय और इदम् की विजय होती है। अन्ततोगत्वा चन्द्रमा से तारा कहती है—

यदि हैं धर्म-मार्ग पर ही करुणा व्यथा
तो फिर आओ चलें पतन को ही चलें;
अगर पाप में ही सुख है, तो पाप ही
हम दोनों बन जायँ, एक होकर रहें।

वर्माजी ने अपने इस गीति-नाट्य में जो समस्या उठाई है वह अत्यंत गम्भीर और विचारोत्तेजक है। उन्होंने समस्या का जो मनोवैज्ञानिक हल उपस्थित किया है वह असामाजिक होते हुए भी उस परिस्थिति में स्वाभाविक है। साधना की अतिशयता और जीवन के स्वाभाविक धर्मों की उपेक्षा की चरम परिणति इसी रूप में दिखाई पड़ती है।

उदयशंकर भट्ट

हिन्दी के गीति-नाट्यों में भट्ट की देन का विशेष महत्व है। अपने तीन गीति-नाट्यों—'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा'—में उन्होंने जो भावसृष्टि की है वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक और एकतान है। उनके प्रतीक हमारे आन्तरिक जीवन के अंग हैं। उनके पौराणिक और निजंधरी पात्र अपनी रंगीनी के कारण मूल्यवान नहीं

हैं, बल्कि लेखक के व्यक्तित्व से उद्भाषित होने के कारण महत्वपूर्ण हुए हैं। उन्हें लेखक ने अपनी आन्तरिक कल्पना और नवीन विचारों से सँवारा है, इसलिए आज के पाठकों के लिए उनका व्यक्तित्व अधिक मूल्यवान हो उठा है।

इनके तीनों नाटकों में मुख्यतः आन्तरिक द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है जो गीति-नाट्य के प्राण-तत्व हैं। यह संघर्ष नारी में है, पुरुष में है और दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी है। मेनका, मत्स्यगंधा और राधा—तीनों यौवन की मदिर आकांक्षा—प्रेम—की अनुवर्तनी हैं जो नारी-जीवन का मधुर स्वप्न और सर्वस्व है। लेकिन तीनों की यौवन-जन्य अभिलाषा में गुणात्मक अन्तर है। मत्स्यगंधा में यौवन की अदम्य लालसा इस सीमा तक पहुँच गई है कि स्वयं यौवन उसका साध्य हो गया है। मेनका में नारीत्व की सहज कोमलता, स्निग्धता, स्फूर्ति और प्रेरणा है, लेकिन वह भी रूप की प्यास का आश्रय पुरुष में खोजती है। राधा में यह वासना—उद्दाम और असन्तुलित वासना—सात्विक और प्रतिदान-शून्य प्रेम में परिणत हो गई है। यही प्रेम का सर्वोच्च शिखर है। इस तरह तीनों नाटकों में एक ही भाव के विभिन्न स्तरों को देखा जा सकता है और इसी एक सूत्र में उन्हें बाँधकर परखना अधिक स्वाभाविक हो सकता है।

मत्स्यगंधा प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में सद्यःआगत यौवन के शीतल स्पर्श से सिहर उठती है। वह देखती है कि उसकी प्राण-वीणा को कोई रह-रहकर झंकृत कर जाता है। उसकी झंकार में वह आत्मविभोर होकर धर्म-नीति भी विस्मृत कर जाती है। उसकी इच्छाओं की सीमाएँ टूट जाती हैं; वह मदोन्मत्त होती हुई भी उन्माद-हीन दिखाई देती है। यौवन के प्रथम चरण में ही मनुष्य के मन में अनन्त रोमांटिक अभिलाषाएँ जागरित होती हैं। वह सारे प्रतिबन्धों को तोड़कर नवीन आदर्शों का नीड़ बनाता है, जहाँ से भौतिक संसार बहुत पीछे छूट जाता है—बहुत पीछे—अनंग का आगमन

और वरदान यौवन का सुनहला स्वप्न ही है। लेकिन मत्स्यगंधा की अपनी स्थिति—मूलतः अर्थाभाव (मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपाय-हीन)—उसकी कल्पना के पंख कतर देती है। यहाँ अनंग कामनाओं—निर्बंध कामनाओं—का प्रतीक है। मत्स्यगंधा और अनंग की वार्ता मत्स्यगंधा के आन्तरिक ऊहापोह की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। अन्ततोगत्वा अनंग उसे समझता है—

> कब प्रिय अवसर मिलता है बार-बार
> लीलता ही जाता यह काल-व्याघ्र चुपचाप
> किन्तु मैं तो देखता हूँ, देख ही रहा हूँ सत्य,
> हृदय उमंग कब ज्ञान को बनी है प्रिय ?

सामाजिक मर्यादाओं (ज्ञान) का घेरा वह सहसा नहीं तोड़ पाती। किन्तु अनन्त यौवन की महत् अभिलाषा से व्यथित वह सोचती है—

> क्यों न राका शारदा सदा ही रहती है यहाँ
> मुक्त हास-लड़ियाँ-सी छोड़-छोड़ नभ से ?
> क्यों न ऋतुराज का समाज चिरकाल तक
> कल्प-वल्लरी के मंजु अमर कुसुम-सा
> विकसित होता है अनन्त मद-भार लिए
> औ' अनन्त प्यार लिये यौवन के तट पर ?

पराशर से कन्यकात्व और अक्षय यौवन का वरदान पाकर तथा उनसे पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म की नवीन व्याख्या सुनकर वह उनकी आकांक्षाओं की तृप्ति में झुक जाती है। यद्यपि पराशर ने उसे समझाया कि—

> अनन्त मद राशि हो,
> देता वरदान तुम्हें किन्तु नारी, प्रिय भी
> सदा न प्रिय लगता है—

फिर भी मत्स्यगंधा ने 'नाथ, वह इष्ट मुझे' कहकर पराशर की सुनी-अनसुनी कर दी। उसको पता नहीं था कि परिवर्तन का नाम ही

जीवन है और जड़ता का नाम मृत्यु। लेकिन अक्षय-यौवन के वरदान में भूली हुई मत्स्यगंधा 'नाथ, वह इष्ट मुझे' गुनगुनाती रही। अन्त में विधवा सत्यवती के रूप में उसका चिर-यौवन अभिशाप बन जाता है और व्यथा से व्याकुल होकर वह पुकार उठती है—

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,
डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगान्त की।

जिन सघन क्षणों (intensified moments) की अभिव्यक्ति के लिए गीति-नाट्यों का आविर्भाव हुआ उसका निर्वाह इस नाटक में सफलतापूर्वक किया गया है। इस गीति-नाट्य का प्रारम्भ प्रकृति के भव्य प्रांगण में होता है जो मत्स्यगंधा जैसी यौवन-प्राण नारी को और भी अधिक शोभन और प्रभावापन्न बना देता है। कवित्व की दृष्टि से इस स्थल का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मत्स्यगंधा के काव्य-मय व्यक्तित्व को द्युतिपूर्ण बनाता है तथा नाटकीय सेटिंग का अत्यन्त आकर्षक चित्र उपस्थित करता है। प्रथम दृश्य में मत्स्यगंधा, सुभ्र, और अनंग का वार्तालाप गीतिमयी गूँजों से ओत-प्रोत है। लेकिन इनकी गीतिमयता में कथासूत्र खोता नहीं, बल्कि आगे को गतिशील होता है। तीसरे दृश्य में पराशर और मत्स्यगंधा का संवाद एक दूसरा रूप ग्रहण करता है। पराशर का संवाद चिंतनपूर्ण और बौद्धिक है, तो मत्स्यगंधा का स्त्रीजनोचित भीरुता और कान्तता समन्वित। चौथे दृश्य में मत्स्यगंधा का एकाकी चिंतन उच्च कोटि के कवित्व से अभिमंडित है। छठे दृश्य की परिवर्तित स्थिति में मत्स्य-गन्धा के करुण पश्चाताप का स्वर कितना वेदनापूर्ण तथा कितना आत्मग्लानि से मुखर है! गीति-नाट्य के काव्यात्मक स्थलों में चित्रो-पमता (imagery) की योजना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इससे काव्य-सौष्ठव तो निखरता ही है साथ ही पाठकों की चेतना भी भावों का गोचर प्रत्यक्षीकरण करती चलती है। काम का एक चित्र देखिये—

गर्विता सुमालती में मदिर-मदिर गन्ध;
यौवन में तृप्तिहीन तृष्णा प्ररोह लोम !

× × ×

किन्तु प्रिय मानव में सैकड़ों वसंत हास,
शत-शत उद्गार, शत-शत हाहाकार,
प्रणयों में पीड़ित हृदय का अवहार्य छन्द ।

इसमें केवल प्रत्यक्ष चित्र-योजना (visual imagery) नहीं है, बल्कि रस, स्पर्श, गन्ध-समन्वित चित्र का विधान भी हुआ है । 'शतशत उद्गार, शतशत हाहाकार' में ध्वन्यात्मक चित्रोपमता (auditoy image) का समावेश भी हुआ है ।

गीति-नाट्य में यह आवश्यक नहीं है कि सभी कविताएँ भावोन्मेष से पूर्ण हों, लेकिन उसमें प्रयुक्त छन्द की प्रत्येक पंक्ति को नाटकीय होना अविनार्य है । प्रत्येक छोटे-छोटे वार्तालाप में नाटकीयत्व का समावेश यहाँ देखा जा सकता है । प्रत्येक दृश्य के नाटकीय प्रारम्भ और समापन में भट्ट जी को कमाल हासिल है । प्रथम दृश्य का नाटकीय अन्त मत्स्यगन्धा के इस कथन से होता है—

पद गति-हीन हुए ।
छन्द यतिहीन हुआ, मतिहीन मति है ।

ताल पर गिरते हुए सम की भाँति, गीत की बुझती हुई गूंज की तरह स्वयं दृश्य परिसमाप्ति की सूचना देता है । इसी तरह दूसरा दृश्य भी—चलो ।

जाना ही है पार पहुँचा दो प्रिये स्वरतर ॥

जहाँ तक नाटकीय गति का सम्बन्ध है पाँचवें दृश्य तक इसमें कोई विक्षेप नहीं पड़ता, किन्तु छठें दृश्य में परिवर्तन-बिन्दु (Turning point) इतना आकस्मिक होता है कि इसके पूर्ववर्ती दृश्यों से इसका सहज सम्बन्ध-स्थापन नहीं हो पाता । यदि बीच में

एक दृश्य और जोड़ दिया गया होता तो इतना लम्बा अन्तराल न पड़ता।

'विश्वामित्र' में जीवन के निषेधात्मक और स्वीकृत्यात्मक मूल्यों का संघर्ष है। विश्वामित्र सासारिक सुखोपभोग से विरक्त, आनन्द से विमुख कठोर तपस्या में संलग्न जीवन के निषेधात्मक मूल्यों के प्रतीक हैं और लौकिक सुख तथा आनन्द में विश्वास करने वाली मेनका जीवन के स्वीकृत्यात्मक मूल्यों की प्रतीक है। इस प्रतीक का एक दूसरा पक्ष है, जिसमें विश्वामित्र पुरुषत्व के चरम अहंकार और रुक्ष विवेक-बुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं और मेनका नारी की स्फूर्ति, ज्योतिर्मयता और कोमलता का। नारी की मनोवृत्तियों को—उर्वशी और मेनका को—दो रूपों में दिखाया गया है। एक की दृष्टि में पुरुष घृणा का पात्र है तो दूसरी की दृष्टि में प्रेम का। लेकिन इस नाट्य के अन्त में इन संघर्षों का कोई हल नहीं मिलता। कोई स्पष्ट हल न मिलने का मुख्य कारण है मेनका का नारीत्व—चिरंतन नारीत्व—के प्रति अनास्थावान होना। उर्वशी (जो एक मनोवृति ही है) के याद दिलाने पर वह अपनी मूल प्रतिज्ञा के प्रति सतर्क हो जाती है—

यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को ठग
नाच नाचऊँ जड़-पुतली कर काम की।

इसकी ओर संकेत करते हुए भट्ट जी ने लिखा है—"**मानव में अहंकार, उसका धीरे-धीरे कम होना, प्रेम का उदय होना, प्रेम की परिणति, विजय के बाद विलास का होना और तदनन्तर मानव में फिर पुराने संस्कार जागृत होना, यही क्रम है।**" जिस चक्र (cycle) का उल्लेख भट्टजी ने किया है, वह निःसन्देह मनोवैज्ञानिक है। किन्तु नैतिक मन के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। मानवी सभ्यता के विकास में इच्छा शक्ति, आत्मानुशासन और शिक्षा से आदिम मनोवृत्तियों को संयमित करके उसकी दासता से मुक्त हुआ जा सकता है। उपर्युक्त चक्र की स्वीकृति में मानवीय सभ्यता और

संस्कृति के विकास की अस्वीकृति है । कदाचित् पौराणिक कथा की सीमाएँ उपयुक्त तथ्य को अपने में समेट नहीं सकीं ।

विश्वामित्र, मेनका और उर्वशी की मानसिक स्थितियों तथा उनके अन्तर्द्वन्द्वों की गहराई में पैठकर अंतरंग की छानबीन की गई है। उर्वशी इन्द्रलोक की सर्वाधिक सुन्दरी और विख्यात अप्सरि-कल्पना है। उसके नृत्य-गीत और सम्मोहन-शक्ति के आख्यानों से पुराण भरे पड़े हैं। सम्भवतः उसके विलासात्मक अतिरेक के विरोध में उसे घृणामयी के रूप में निरूपित किया गया है जो मनोविज्ञान के अनुरूप है। मेनका आदर्शवादी और रोमांटिक है, इसलिए इसके कथन में गीति-तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं।

अभिनेयता की दृष्टि से मत्स्यगंधा की अपेक्षा इसकी आवयविक अन्विति (Organic unity) अधिक निखरी हुई है, यद्यपि प्रारम्भिक सेटिंग और दृश्य का समायन अपेक्षाकृत कम नाटकीय और प्रभावोत्पादक है। कोरस के अभाव में मत्स्यगंधा की तरह इसमें संगीत समाविष्ट नहीं हो सका है।

नारी और नर की चिरंतन समस्या (प्रेम) का जो समाधान भट्टजी के उपर्युक्त दो नाटकों में नहीं मिल पाया था वह 'राधा' में मिल गया। राधा उपचार-निरपेक्ष और प्रतिदान-शून्य प्रेम की प्रतीक है। राधा में न तो मत्स्यगंधा के अतृप्त यौवन का आवेग है और न मेनका की अस्थिरता। उसमें निष्काम प्रेम-भावना है, जो अन्त में चलकर विवेक और कर्त्तव्य-प्राण कृष्ण को प्रणत होने के लिए बाध्य करती है।

मध्यकालीन भक्तों में अनेक ने राधा को परकीया के रूप में देखा है—विशेष रूप से गौड़ीय वैष्णवों ने। चाहे मर्यादा के आच्छादनों से राधा को अनेक पर्तों में लपेटकर स्वकीया सिद्ध किया जाय, लेकिन उनकी प्रेम-पद्धति परकीया की ही है। भक्ति-भावना की सान्द्रता जितनी परकीया-भाव में दिखाई पड़ती है, उतनी

स्वकीया में हो ही नहीं सकती। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। भागवत में भी 'जार भाव' से उपासना का प्रतिपादन किया गया है। लोक में राधा सामन्यतः परकीया ही स्वीकार की गई हैं। भट्टजी ने उनको इसी रूप में ग्रहण किया है। गौड़ीय वैष्णवों की भाँति राधा को इन्होंने भी महाभाव के रूप में ही देखा है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरित्रामृत' में काम और प्रेम का अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥

राधा इसी प्रेम की प्रतीक हैं। राधा की साधना का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए वृन्दावन के कृष्ण को भी गीता के दार्शनिक कृष्ण के रूप में अवतरित किया गया है जो इन्द्रियजित और असंग हैं। इस गीति-नाट्य में भट्टजी ने विवाह में कन्या की इच्छा, सामाजोन्नति, स्व-उन्नति और राष्ट्र-उन्नति—धर्म के विविध रूपों को प्रसंगात् समाविष्ट कर लिया है।

राधा के गीतिमय व्यक्तित्व में भट्टजी के कविरूप की प्रौढ़ता स्पष्ट दिखाई देती है। राधा की पौराणिक गाथा को अपना आधार बनाते हुए भी उन्होंने उनके प्रेम में एक क्रमिक सघनता ले आने का सुन्दर प्रयास किया। उनका प्रेम सघन से सघनतर होता हुआ सघनतम की ऊँचाई पर पहुँच जाता है। राधा का एक आवेगमय क्षण देखिए—

वे यहाँ हैं, वे वहाँ हैं, हृदय में, विश्वास बल में,
कुसुम कलियों में, लता में, वृक्ष में, सरिता लहर में,
गगन में, पाताल में, भूधर-धरा—जीवन-मरण में।

नारद की अवतारणा दुहरे उद्देश्यों की पूर्ति करती है। एक तो वे उद्धव की भक्ति और ज्ञान-गरिमा का प्रतिनिधित्व करते हुए उन्हीं की भाँति परास्त होते हैं, दूसरे राधा की प्रेम-भावना में अवरोध

डालकर उसे और भी प्रगाढ़ और रागारुण बना देते हैं। मत्स्यगंधा की टेकनीक को कुछ हद तक इसमें भी अपनाया गया है, जैसे प्राकृतिक सेटिंग, कोरस। वंशी-वादन की स्वर-माधुरी सारे वातावरण में एक करुण अनुभूति भर देती है। मत्स्यगंधा की अपेक्षा इसमें नाटकीय आरोह-अवरोह के क्षण कम हैं। अंत में श्रीकृष्ण का लम्बा प्रवचन नाटकीय प्रभावान्विति को बहुत-कुछ क्षीण बना देता है।

भट्टजी के गीति-नाट्यों की सफलता उनके गीतिमय प्रौढ़ कवि, दुःखान्त नाटकों के प्रति सहज रुचि और मनोवैज्ञानिक क्षणों की पहचान पर अवलम्बित है। जहाँ इन नाटकों में इनकी ये सहज विशेषताएँ इन्हें वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं वहाँ अन्य नाटकों में ये ही इनकी बेड़ियाँ बन जाती हैं। पता नहीं, भट्टजी गीति-नाट्यों के प्रति उदासीन क्यों हो गए हैं?

रतज शिखर और शिल्पी

इधर हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त, रेडियो में आ जाने पर, गीति-नाट्यों की सृष्टि की ओर उन्मुख हुए। अब तक उनके दो गीति-नाट्य-संग्रह 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' प्रकाशित हो चुके हैं। 'रजत शिखर' में छः और 'शिल्पी' में तीन गीति-नाट्य संग्रहीत हैं, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रकाशित हो चुके हैं।

पन्तजी मुख्यः प्रेम, सौंदर्य और कल्पना के कवि हैं। कल्पना की प्रधानता के कारण ही छायावाद का प्रतिनिधत्व करने में वे सर्वाधिक सक्षम हैं। इनकी कल्पना या तो अतीत की स्मृतियों (वियोग-शृंगार) में रम सकी हैं अथवा भविष्य की रंगीन कल्पनाओं में (भावी पत्नी)। कल्पना-जीवी के लिए कोई तीसरा स्थान शेष भी तो नहीं है। 'ज्योत्स्ना' में स्वप्न, कल्पना, पवन, सुरभि आदि से इन्होंने जिस वायवी संसार का सृजन किया है, उसे हम देख चुके हैं। इन गीति-नाट्यों में उसका कुहासा फट नहीं पाया है। अधि-

कांश गीति-नाट्यों में वर्तमान का संघर्ष पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है, लेकिन भविष्य की स्वर्ण-कल्पना इससे कट-सी गई है। दोनों के संबंध-स्थापन में कवि को बहुत कम सफलता मिल पाई है। वर्तमान संघर्षों में टिकना पन्तजी की कोमल प्रकृति और स्वप्नदर्शी कल्पना के लिए सम्भव नहीं है।

रजत शिखर संग्रह का प्रथम गीति-नाट्य 'रजत शिखर' है जो अन्तश्चेतना का शुभ्र प्रतीक है। इसमें मन की ऊर्ध्व और समतल स्थितियों का समन्वय स्थापित किया गया है। इसके पाँच पात्र अलग-अलग राग अलापते हैं—इनमें मनोविश्लेषक सुखव्रत का स्वर सबसे ऊँचा और गूढ़ है। सुखव्रत अवचेतन का मर्म समझाते समय मनोविश्लेषण-शास्त्र का सारा ज्ञान उडेल देता है, फिर भी लगता है कि वह स्वयं अपने विचारों में साफ नहीं है। उसने फ्रायड, एडलर और युंग की विचारधाराओं की एक अजीब खिचड़ी पकाई है। अंत में विस्थापितों से प्रभावित होकर युवक जीवन-स्वप्नों का नीड़ सजाने में संलग्न हो जाता है। 'फूलों का देश' सांस्कृतिक चेतना का धरातल है। इसमें अध्यात्मवाद-भौतिकवाद, आदर्शवाद-यथार्थवाद का समन्वय स्थापित किया गया है। कलाकार आध्यात्मिकता और आदर्श का प्रतीक है तथा वैज्ञानिक भौतिकता और यथार्थ का। कलाकार मनुज-हृदय के परिवर्तन की बात सोचता है और वैज्ञानिक 'जीवनोपाय का समुचित वितरण' चाहता है। उनकी काल्पनिक सदिच्छा (wishful-thinking) आशाप्रद वाद्य-संगीत से जुड़कर फलवती भो हो जाती है। इसे विभावना अलंकार का उदाहरण समझ सकते हैं। उसकी परिभाषा है—'**क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फल व्यक्तिर्विभावना।**' उत्तरशती में भी आधारहीन बलवती आशा का संदेश है, शुभ्र पुरुष गांधीजी का स्तवन है और 'शरत-चेतना' जो धरती पर सुख-श्री-शान्ति का संचार करती है, हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि से अभिमंडित है।

'रजत शिखर' में पन्तजी की प्रतिभा का स्पर्श प्रायः नहीं है। यहाँ पर कवि, विचारक, चिंतक सभी अपने निःशक्त रूप (spent up form) में अनावृत हो उठे हैं। ऊर्ध्व चेतन के वात्याचक्र में पड़े हुए कवि को कोई ठोस मार्ग नहीं मिल पाया है। ठोस धरती यदि कहीं दिखाई पड़ी है तो कवि उससे कतराकर दूर चला गया है। नयेपन के नाम पर 'नव' का अत्यधिक प्रयोग हुआ है, जैसे नव आशा, नव विश्वास, नव मानव, नव मनुजत्व, नव संस्कृति, नव युग, नव सौंदर्य, नव प्रतीति, नव लीला, नव वसन्त, नव भू-यौवन। इस संग्रह में नवीनता के नाम पर यह पन्तजी की सबसे जबरदस्त पूजी है।

'रजत शिखर' के सभी काव्य-रूपक (यह शब्द स्वयं पन्तजी का है) प्रतीकात्मक हैं, इससे रंगमंच की दृष्टि से इनकी सफलता-असफलता पर विचार करना अधिक संगत नहीं है। लेकिन सभी रूपक विभिन्न आकाशवाणी के केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं, इनके रूपकत्व पर विचार करना आवश्यक हो गया है।

केवल प्रतीक पात्र सिद्धान्तों के पुतले बनकर रह गए हैं, मांसलता के अभाव में वे श्रोताओं या दर्शकों का भावात्मक अनुकूलत्व (Emotional response) प्राप्त करने में पूर्णतया असमर्थ हैं। सच पूछिए तो इस तरह के रूक्ष प्रतीकों से काव्य-रूपकों (Verse Drama) का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। जबकि आज यह कहा जा रहा है कि नाटक केवल काव्य रूपकों के रूप में ही जीवित रह सकता है, तब ऐसे काव्य-रूपक तो नाटकों के भविष्य का ही अंत कर देंगे। कोरे सैद्धान्तिक कथोपकथन को वाद्य-संगीत और कोरस कहाँ तक नाटकीय बना सकते हैं!

पन्तजी के दूसरे काव्य-रूपक 'शिल्पी' में तीन काव्य-रूपक संगृहीत हैं—शिल्पी, ध्वंसशेष और अप्सरा। 'रजत शिखर' से कई अर्थों में यह सरल है, क्योंकि यह हमारे जीवन के अधिक निकट है।

'रजतशिखर' तक पहुँचने के लिए अरविंद की चक्करदार ऊर्ध्वमन की सीढ़ियों से गुजरना पड़ता है, जो सामान्य-जन के बूते के बाहर है। पर 'रजतशिखर' की भाँति 'शिल्पी' के काव्य-रूपकत्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ है। लम्बे-लम्बे रूक्ष सैद्धान्तिक भाषणों में संघर्ष की अत्यधिक विरलता के कारण नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव है। 'शिल्पी' को ही लीजिए। पहले दृश्य में शिल्पी की शिष्या गांधी, पटेल आदि की भंगिमाओं और गुणों पर जो प्रकाश डालती है वह नीरस और जी उबा देने वाला हो गया है। द्वितीय दृश्य में पाँच-सात व्यक्तियों के दुरूह वक्तव्य हैं, जो एकरस तथा अरंगमंचोपयुक्त है। अन्तिम दृश्य में नाटकीय संघर्ष ले आने का प्रयास दिखाई पड़ता है, पर अन्त में सिद्धान्तों के भँवर-जाल में वह भी डूब जाता है। 'ध्वंसशेष' और दुरूहतर तथा 'अप्सरी' दुरूहतम हो जाता है। इनके माध्यम से जिस 'नवजीवन-निर्माण का स्वप्न' देखा गया है और जिस 'सौंदर्य-चेतना' को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया है, वह सब-कुछ वाक्-जाल में इस प्रकार खो जाता है कि श्रोता, दर्शक अथवा पाठक के पल्ले प्रायः कुछ नहीं पड़ता। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से विचार करने पर दोनों संग्रह एक ऐसे कर्कश और घुटनपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हैं कि पाठक तथा दर्शक को उपलब्धि में शून्य ही हाथ लगता है।

अन्धायुग

अभी हाल में धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' गीति-नाट्य प्रकाशित हुआ है। यह कई दृष्टियों से हिन्दी गीति-नाट्य-परम्परा में एक नया मोड़ उपस्थित करता है। इसके पूर्व हिन्दी में जो भी गीति-नाट्य लिखे गए वे एकांकी गीति-नाट्य थे। 'अन्धायुग' हिंदी का एकांकी गीति-नाट्य न होकर पहला पूर्ण गीति-नाट्य है। यह पाँच अंकों में विभाजित है। वृत्त की दृष्टि से भी इसमें नयापन है। अभी तक हिंदी गीति-नाट्यों में अतुकान्त छंदों का प्रयोग होता रहा है,

पर 'अन्धायुग' में मुक्तवृत्त का व्यवहार किया गया है। मुक्तवृत्त के प्रयोग के कारण यह रंगमंचोपयुक्त तथा भावाभिव्यंजना में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हो सका है।

इसके पूर्ववर्ती गीति-नाट्यों में व्यापक कथा-वस्तु नहीं ग्रहण की जा सकती थी, क्योंकि उनकी संकीर्ण सीमाओं में लघु कथा-वस्तु का समाहित होना ही सम्भव था। 'अंधायुग' में अपेक्षाकृत विस्तृत कथा-वस्तु ग्रहण की गई है, जो अत्यन्त प्रख्यात तथा मार्मिक है। पर पात्रों की भावाभिव्यंजना, कथा में प्रतीकात्मकता की योजना तथा कथा का रूप-विन्यास (Design) नाटककार की उर्वर कल्पना-शक्ति के परिचायक हैं।

रामायण-काल की अपेक्षा महाभारत-काल का नैतिक स्तर बहुत-कुछ गिर गया था। युद्ध के समय अनैतिकता खुलकर खेल रही थी। युद्ध समाप्त होते-होते यह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इस अमर्यादापूर्ण और अनैतिक काल—महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभासतीर्थ में कृष्ण-मृत्यु के क्षण तक—की कथा इस गीति-नाट्य में ग्रहण की गई है।

इस कथा के सहारे नाट्यकार ने युद्धजन्य अर्धसत्यों, कुण्ठाओं, अन्धस्वार्थपरता, विवेक-शून्यता आदि का उद्घाटन करते हुए इन्हीं बीच उगती हुई मर्यादा, आस्था, कर्म-परता, आदि की शुभ्र और मंगलमयी ज्योति का जो उल्लेख किया है वह अन्ध-गह्वर में भटकते हुए मानव के लिए निरंतर सहायक सिद्ध होगी। यह ज्योति कथाकार की नवीन उपलब्धि नहीं है, बल्कि यह उसे गीता के अनासक्त कर्मयोग से प्राप्त हुई है। इस सत्य को इस कथा में गूँथ देना और उसके माध्यम से उसे व्यापक बनाने का उपक्रम करना ही लेखक की नई देन कही जा सकती है। इसी को कृष्ण ने व्याध से कहा है—

लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी

मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर
मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार

सम्पूर्ण कथा को कुछ इस तरह के ताने-बाने से बुना गया है कि वह बहुत-कुछ एकतान और अटूट बन गई है। कथावस्तु को गतिशील और अन्वितिपूर्ण बनाने के लिए धर्मवीर भारती ने मुख्यतः दो उपादानों का सहारा लिया है—कथा-गायन या कोरस का और प्रसंगानुकूल बदलते हुए टोन और लय का।

कथा-गायन या कोरस यूनानी नाटकों का अनिवार्य अंग था। अंग्रेजी नाटकों में टी० एस० ईलियट, आडेन आदि ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है। 'अन्धायुग' में कथा-गायन वस्तु-संघटन का एक अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। कथा-गायन का दुहरा कार्य है। एक ओर यह कथा की पृष्ठभूमि तैयार करता है और मंच पर अभिनीत न होने वाली घटनाओं की सूचना देता है तथा दूसरी ओर दृश्य-परिवर्तन को इंगित करता है। पर एक अंक के अन्त में जहाँ कथा-गायन की योजना की गई है और दूसरे अंक में प्रारम्भ में कथा-गायन कुछ उसी ढंग का हो गया है वहाँ गीति तथा कथा-गायन का

पृष्ठपेषण-सा होता है, जैसे प्रथम अंक का अंतिम कथा-गायन और द्वितीय का आरम्भिक। लेकिन इस तरह की त्रुटि अन्यत्र नहीं आ पाई है।

अंकों के बीच आने वाले कथा-गायक और उनके आदि अन्त में आने वाले कथा-गायकों में अन्तर है। पहले में प्रायः कथा-गायन संक्षिप्त तथा आगे घटने वाली घटनाओं का बोधक होता है। दूसरे कथा-गायन की (अंकों के अन्त में आने वाले कथा-गायन की) परिधि व्यापक और समापन-परक होती है; कथा को गतिशील और अन्वितिपूर्ण बनाने के अतिरिक्त पाठकों या दर्शकों के मन में यह प्रसंगोचित भाव की प्रतिष्ठा भी करती है। प्रथम अंक के बीच पड़ने वाले एक कथा-गायन का उदाहरण लीजिए—

अन्तःपुर में मरघट की-सी खामोशी
कृश गांधारी बैठी हैं शीश झुकाए
सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद नहीं लाए

यह आगे की कथा-शृंखला मिलाने में कड़ी का काम करता है। इसके साथ ही यह प्रत्यक्ष दृश्य-योजना (Visual presentation) को ध्वनि के माध्यम से चित्रित कर देता है। इसी प्रकार प्रथम अंक के अन्त में—

यह रात गर्व में
तने हुए माथों की
यह रात हाथ पर
धरे हुए हाथों की

कहकर करुण समापन का दर्द-भरा चित्र (image) प्रस्तुत किया गया है।

गीति-नाट्यों की अभिनयात्मक सफलता बहुत कुछ ध्वनि पर निर्भर करती है। नाटककार संवादों के माध्यम से ध्वनि या टोन

द्वारा भावनाओं का जो चित्र उपस्थित करता है, उससे नाटक की शृंखला जुटती है और पात्रों का चरित्र भी निखरता चलता है। यह टोन परिस्थितियों से नियन्त्रित होती रहती है। एक ही समय परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण विभिन्न व्यक्तियों की टोन में अन्तर होता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति की टोन में काफी अन्तर दिखाई पड़ता है। यद्यपि टोन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रंगमंचीय पात्रों से होता है, तथापि नाटककार को भी इस प्रकार की नाटकीय स्थितियाँ प्रस्तुत करनी पड़ती हैं जिनमें अभिनेता को टोन-परिवर्तन का अवसर मिलता रहे। 'अन्धा युग' में इस प्रकार से विभिन्न टोनों के प्रयोग के लिए यथावसर नाटकीय स्थितियाँ प्रस्तुत की गई हैं। एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की विभिन्न टोनों से नाटकीय क्रिया व्यापार स्पष्ट हो जाता है। प्रथम अंक में पहले प्रहरी ने ज्योंही गृद्धों की पंख-ध्वनि सुनी त्योंही वह कह उठा—"लो सारी कौरव नगरी का आसमान गिद्धों ने घेर लिया। नर-भक्षी हैं, ये गिद्ध भूखे हैं।" पहले प्रहरी के कथन से प्रत्यक्ष दृश्य-विधान का संकेत-भर मिलता है, पर दूसरे के कथन से भयग्रस्त वातावरण सजीव हो उठता है। इस प्रकार का चित्रण टोन के परिवर्तन द्वारा ही सम्पन्न होता है। पहले अंक में ही किसी के पैरों की आहट पाकर धृतराष्ट्र का 'संजय' पुकारना ऐसा स्वर-कंपन उत्पन्न करता है कि उसके वाल्यूम से पाठक के मन में भी एक कुतूहल जागरित हो जाता है। इससे धृतराष्ट्र की व्याकुलता और संशयग्रस्त मनःस्थिति का भी उद्‌घाटन हो जाता है। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र छोड़ने पर व्यास की टोन नाटकीय स्थिति (Dramatic situation) के तीव्रतर बनाती है। अश्वत्थामा जैसे पात्र की मनःस्थिति के कई स्तरों का उद्‌घाटन किया गया है। ऐसी स्थिति में उसकी भूमिका में उतरने वाले अभिनेता को टोन-परिवर्तन की कला में दक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस तरह के गीति-नाट्यों के छन्द-विधान, लय और भाषा पर

भी विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि गीति-नाट्यों के संविधानक के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दी के गीति-नाट्यों में (निराला के 'पंचवटी प्रसंग' को छोड़कर) अभी तक अतुकान्त छन्द का प्रयोग होता रहा है, जो विभिन्न मनःस्थितियों को अपने में बाँध सकने में असमर्थ था। निराला के 'पंचवटी प्रसंग' गीति-नाट्य में मुक्त छन्दों का जो प्रयोग हुआ है उसमें गीतिमयता के साथ चरित्र-निर्माण की अपूर्व क्षमता है। उसके बाद 'अन्धा युग' में ही इस छन्द को अपनाया गया है। अतुकान्त छन्दों में तुक न होने पर भी मात्राओं का जो बन्धन लगा रहता है उससे नाट्यकार की स्वतंत्रता बहुत-कुछ सीमित हो जाती है, पर मुक्त छन्दों में नाट्यकार भावानुकूल छन्द-योजना करता है।

भावों की विभिन्नता के साथ कविता की लय में भी परिवर्तन करना पड़ता है। भागवत सूक्ष्म छायाओं (shades) को व्यक्त करने के लिए लय में वैविध्य ले आना आवश्यक होता है। टोन स्वर के वाल्यूम पर निर्भर करती है और लय संगीतात्मक प्रवाह पर। भिन्न-भिन्न संवेगों के प्रादुर्भूत होने पर लय में परिवर्तन ले आना स्वाभाविक होता है। भारती ने इस बात का ध्यान रखते हुए ग्रन्थ के निर्देश में लिखा है, "**जैसे एक बार बोलने के लिए मुँह खोले किन्तु उसी बात को कहने में मन में भावनाएँ कई बार करवटें बदल लें तो उसे संप्रेषित करने के लिए लय भी अपने को बदल लेती है। कहीं-कहीं लय का यह परिवर्तन मैंने जल्दी-जल्दी ही किया है—उदाहरण के लिए पृष्ठ ७६–८० पर संजय के समस्त संवाद एक विशिष्ट लय में हैं। पृष्ठ ८१ पर संजय के संवाद की यह लय आकस्मात बदल जाती है।**"

गीति-नाट्यों में भाषा का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि भाव-प्रेषण का सूत्र इसी के हाथ में रहता है। इस सम्बन्ध में ईलियट का कहना है कि भाषा न तो इतनी प्राचीन होनी चाहिये कि उसकी बोधगम्यता

ही संदिग्ध हो जाय और न कुछ आधुनिक फ्रांसीसी नाटककारोंकी तरह आजकल के वार्तालाप से मिलती-जुलती होनी चाहिए। इसलिए अपनी शैली को उसने तटस्थ (Neutral) कहा है। इस तटस्थता का निर्वाह करने के लिए ही गीति-नाट्यों में उसने अतुकांत छन्दों का प्रयोग नहीं किया। पर आधुनिक समस्याओं और अतीत की कथावस्तु में सामंजस्य स्थापित करने के लिए भाषा-सम्बन्धी कुछ इस प्रकार की सतर्कता बरतनी पड़ेगी जो दोनों युगों को व्यक्त करने में समान रूप से समर्थ हो सके। आज के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को सचेष्ट होकर बचाना चाहिए। प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'वैयक्तिक मूल्य', 'अर्धसत्य' आदि शब्दों के व्यवहार में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु जब अश्वत्थामा यह कहता है—

वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि।

तब उसकी महाभारतकालीन पात्रता समाप्त हो जाती है। लेकिन इस तरह की शब्दावली का 'अन्धा युग' में प्रयोग बहुत कम ही मिलेगा।

अभी तक प्रधान रूप से 'अन्धायुग' के रूप-विन्यास की ही चर्चा होती रही है, किन्तु गीति नाट्यों में चरित्र-चित्रण अपेक्षाकृत अधिक कुशलता की अपेक्षा रखता है। गद्य-नाटकों में नाटकीय स्थितियों और परिस्थितियों की नियोजना का जितना अवकाश मिलता है, गीति-नाट्यों में उतना अधिक नहीं मिल पाता। किसी विशेष परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिए अनुकूल घटनाओं और परिवेशों का संघटन गीति-नाट्यकार के लिए सम्भव नहीं है। बाह्य दृश्य-विधान के स्थान पर मानसिक संघर्षों का चित्रण ही उसका प्रमुख लक्ष्य होता है। इन मानसिक स्थितियों द्वारा ही पात्रों का चरित्र उद्घाटित किया जाता है, पर इसे अच्छी तरह परखने के लिए यह

आवश्यक है कि चरित्रों के मानसिक संघर्ष के साथ नाटक की कविता और क्रिया-व्यापार के सामञ्जस्य की जाँच कर ली जाय।

इस गीति-नाट्य के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा, गांधारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु और संजय हैं। इनके मानसिक संघर्षों के कई स्तरों का उद्घाटन करते समय इस बात का ख्याल रखा गया है कि काव्य-तत्व और क्रिया-व्यापार से पात्रों के मानसिक संघर्षों का सम्बन्ध टूटने न पाए। लम्बे गीति-नाट्यों में सर्वत्र काव्य-तत्व उसी प्रकार नहीं मिल पाता जैसे प्रबन्ध-काव्यों में। लम्बे गीति-नाट्य में काव्य-तत्वों को इस दृष्टि से देखना पड़ता है कि उनमें नाटकीय सुसम्बद्धता (dramatic relevance) है अथवा नहीं। नाटकीय सुसम्बद्धता से विरहित काव्य-तत्व का नाटकों में कोई स्थान नहीं है। युधिष्ठिर के अर्धसत्य (उसे असत्य कहना ही उचित है, क्योंकि सत्य आधा या तिहाई नहीं होता; वह या तो सत्य होगा अथवा असत्य) ने अश्वत्थामा की आस्था को इस तरह कुण्ठित कर दिया कि उसके मन में एक विचित्र मनोग्रन्थि पैदा हो गई, जिसे सुलझाने का उसने जितना ही अधिक प्रयास किया उससे उतनी अधिक उलझन बढ़ती गई। अश्वत्थामा की इन उलझनों में—उसके वक्तव्यों में—प्रायः नाटकीय सुसम्बद्धता मिलेगी। विभिन्न प्रकार की मनःस्थितियों में भिन्न-भिन्न तरह के क्रिया-व्यापारों को गूँथा गया है। उसके मन में आशा-निराशा, क्षोभ-ग्लानि और कुण्ठाओं के अनेक तार बँधे हुए हैं। वह विमंथित अन्तर्मन की विक्षोभ-मूर्ति है। महाभारत-काल की अनैतिकता उसमें पुंजीभूत-सी हो गई है। वह सामान्य मानसिक स्थिति में न रहकर बहुत-कुछ असामान्य पात्र (abnormal character) हो गया है। भारती ने उसके घनीभूत क्षणों को काव्य-तत्वों से सन्निविष्ट कर अभिव्यक्ति दी है। गांधारी की मानसिक स्थिति बहुत-कुछ अश्वत्थामा की मानसिक स्थिति से मिलती-जुलती है। संजय को अश्वत्थामा के वीभत्स कर्म को विस्तारपूर्वक वर्णन

करने की आज्ञा देकर गांधारी एक प्रकार के मनस्तोष का अनुभव करती है। इससे कथानक को आगे बढ़ने में सहायता मिलती है और साथ ही उसकी विक्षुब्ध मानसिक अवस्था का भी पता लगता है। विषम परिस्थितियों में पड़कर युयुत्स का आत्महत्या कर लेना अत्यन्त करुण प्रसंग है। गांधारी, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर आदि आत्म-हत्या ही करते हैं। इनकी आत्महत्या जैसा कि लेखक ने स्वयं संकेतित किया है, उस युग की समस्त संस्कृति में व्याप्त हो उठी है।

आत्महत्या, संशय, विक्षेप, शाप से ग्रस्त तत्कालीन कथावस्तु का आधुनिक स्थितियों में तारतम्य बिठाना नाटककार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। द्वितीय महायुद्ध के बाद जो युग आया है, क्या वह महाभारतयुगीन अमर्यादा और अनैतिकता से किसी प्रकार कम कहा जा सकता है? आज दुनिया को रक्तपात, कुरूपता, भयंकर निराशा और अन्धापन कितनी बुरी तरह घेरे हुए हैं! गूँगे सैनिक की मार्मिक व्यथा आज के परमाणु-युग पर कितना मार्मिक व्यंग्य है! तत्कालीन कथावस्तु को आज की समस्याओं से जोड़ने का कार्य मुख्य रूप से दोनों प्रहरी करते हैं। वे कहीं आज के शस्त्रास्त्रों की होड़ की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं तो कहीं निम्न वर्ग की अपरिवर्तित स्थिति की ओर। युधिष्ठिर के शासन के सम्बन्ध में प्रहरियों का वार्तालाप थोड़ा-बहुत आज के युग पर लागू है—

शासक बदले
स्थितियाँ बिलकुल वैसी ही हैं
इससे तो पहले ही के शासक अच्छे थे
अन्धे थे...
लेकिन वे शासन तो करते थे
ये तो संतज्ञानी हैं

शासन करेंगे क्या ?

इसकी व्यंजना पर टिप्पणी करना व्यर्थ है।

संक्षेप में 'अन्धा युग' हिन्दी गीति-नाट्यों की परम्परा को एक नया और स्वस्थ मोड़ देता है। कथानक की उत्कृष्टता, गीति-संवादों का नाटकीय निर्वाह, प्रभावान्विति, प्रतीक-योजना आदि पर विचार करते हुए यह एक श्रेष्ठ गीति-नाट्य में परिगणित होगा, इसमें सन्देह नहीं।

समाजिक नाटक

हिन्दी के नाट्य साहित्य को ऐतिहासिक कथानकों ने इतना अधिक घेर लिया है कि दूसरी दिशाओं में जाने के लिए उसे जैसे न अवकाश है और न प्रयत्न की इच्छा। इस दिशा में जो कुछ प्रयास किए गए हैं उनमें जीवन की गहरी पकड़ का अभाव इस बात की सूचना देता है कि 'चलो इस ओर भी कुछ करते चलें' की प्रवृत्ति से परिचालित होकर नाटककारों ने कुछ लिख दिया है। सामाजिक समस्याओं के नाम पर नाटककारों ने या तो गांधी जी से प्रभावित सामाजिक-राजनीतिक विचार-धारा के स्थूल रूपों को ग्रहण किया है या फिर पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावों से उत्पन्न प्रेम और विवाह की स्थूल समस्याओं को। सेठ गोविन्ददास यदि पहली कोटि में आते हैं तो पृथ्वीनाथ शर्मा और अश्क दूसरी कोटि में। उदयशङ्कर भट्ट की स्थिति इन दोनों के बीच की है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाटककारों ने उनसे मिलती-जुलती समाज की कतिपय और समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया है।

सेठ गोविन्ददास

सेठ जी के अधिकांश नाटकों में उनका अपना ही व्यक्तित्व प्रतिफलित हुआ है। चाहे ऐतिहासिक नाटक हों, चाहे जीवनी-परक नाटक अथवा सामाजिक राजनीतिक नाटक—सर्वत्र उनके जीवन को जाना पहचाना जा सकता है। हाँ, सामाजिक नाटकों में उनका व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन आवश्यकता से अधिक उभर आया है और इसका परिमाण यह हुआ है इन नाटकों में बँधाव आ गया है।

'ग़रीबी या अमीरी' की भूमिका के प्रारम्भ में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे उनका जीवन-दर्शन स्पष्ट हो जाता है।...'अफ्रीका में मैंने जो कुछ देखा और वहाँ के भारतीयों के संबंध में सुना था, उसके आधार पर इस नाटक का विचार उठा था और यह सिनापसेस तैयार हुआ था, परन्तु इसके सिवा रूस की 'निहलिस्ट' कथाओं का भी इस विचार और सिनापसेस पर प्रभाव था। रूस के इतिहास में निहलिस्ट लोगों का एक विशेष स्थान है। रूस की लाल क्रान्ति के पहले कुछ सम्पन्न व्यक्ति देश के लिए सर्वस्व का त्याग कर देश सेवा में लगे थे। इनका काफी बड़ा और मजबूत संगठन था।...इनमें से अधिकांश ने अपनी संपत्तियों को इसलिए छोड़ा था कि वे उनका उपार्जन अनुपयुक्त मार्गों से हुआ मानते थे।'

सेठ जी स्वयं वैभव संपन्न परिवार में पैदा हुए थे पर देश-सेवा के लिए उन्होंने अपने वैभव-विलास को लात मार दिया। रूसी निहलिस्टों की भाँति अनुपयुक्त मार्गों से उपार्जित वैभव को छोड़ देना ही इन्होंने श्रेयस्कर माना। इसलिए उपर्युक्त नाटक के लिए बाहर से हो सकता है कि इनको प्रेरणा मिली हो, पर स्वयं इनका जीवन ही प्रेरणा के लिए काफी था। अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल इन्होंने गांधी-जीवन-दर्शन को अपना लिया। किंतु गांधी-जीवन-दर्शन को आत्मसात् करने वाले इस देश में कितने लोग हैं! अन्य लोगों की भाँति इन्होंने भी गांधी जी के व्यावहारिक आदर्शों को ही अपनाया। अतः स्वाभाविक था कि ये जीवन की गहराई में उतने न पैठ सके। मोटी समस्याओं के स्थूल हल के आगे बढ़ाना इनके लिए संभव न था।

राजनीतिक दृष्टि से जहाँ ये गांधीवादी हैं वहाँ साहित्यिक दृष्टि से द्विवेदी युगीन सात्विकता के कायल। इनकी कृतियों में विवेचन-विश्लेषण की वही सफाई मिलेगी, वही प्योरिटन मर्यादा मिलेगी। नाटकों के शीर्षक प्रेमचन्द्र की प्रारंभिक कहानियों की याद

दिलाते हैं—'सेवा-पथ', 'दुःखी क्यों?', 'अमीरी या गरीबी' आदि। जिस प्रकार 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' 'नमक हलाल' शीर्षक से उनके जीवन-मर्म का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार सेठ जी के सामाजिक नाटकों के शीर्षकों से भी।

'सेवापथ' में गाँधीवाद का अनुगमन और त्याग सर्वश्रेष्ठ सेवापथ माना गया है। 'दुःख क्यों?' का उत्तर है त्याग का अभाव। अंत में सुखदा द्वारा त्याग के कारण ही दुःख का शमन होता है। गरीबी या अमीरी में गरीबी का वरण ही श्रेयस्कर सिद्ध किया गया है।

'गरीबी या अमीरी' का दूसरा नाम 'श्रम या उत्तराधिकार' इस नाटक के प्रतिपाद्य को और भी अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है। दक्षिणी अफ्रीका के करोड़पति लक्ष्मीदास की पुत्री अपने पति के आदर्शों के अनुरूप श्रम को स्वीकार कर उत्तराधिकार को ठुकरा देती है। यही इस नाटक का मूल स्वर है जो स्वयं सेठ जी की जीवन-वंशी से मुखरित है। इनके अन्य सामाजिक नाटकों की मूल रागिनी भी सेवा, त्याग, तपश्चर्या, सत्य, अहिंसा से अनुप्राणित है।

इनके पात्र किसी न किसी उच्च आदर्श को अपने जीवन का चरम धेय मानते हैं। देशभक्ति, श्रम में विश्वास, और सेवा-व्रत इनके आदर्शात्मक त्रिभुज की तीन रेखाएँ हैं—सेवा व्रत को इसकी आधार-रेखा कहा जा सकता है। इस तरह के इनके प्रत्येक नाटक में एक तो सच्चा सेवाव्रती पात्र दिखाई पड़ता है और दूसरा इसकी आड़ में यशोलिप्सा रूपी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करने वाला पात्र। 'सेवा पथ' का दीनानाथ, 'दुःख क्यों' की सुखदा और 'गरीबी या अमीरी' की अचला सच्चे सेवाव्रती पात्र हैं और उन्हीं नाटकों के श्री निवास यशपाल और विद्या भूषण सेवा और स्वाभिमान की ओट में अपनी महत्वाकांक्षा की तृप्ति करने वाले चरित्र। 'गरीबी या अमीरी' की अचला कहती है—'जिस सोने चाँदी पर गरीबों के आँसुओं का

जंग और जवाहरात पर उनके खून के दाग हों वे उसे क्यों छुवें ? इस बार...इस बार इस अमीरी का सदा के लिए त्याग कर गरीबी का आलिंगन करूँगी। इस...इस दफा, इस उत्तराधिकार को हमेशा के लिए छोड़, श्रम को गले लगाऊँगी।...विभा बहन, हर नयी पीढ़ी के लिए किसी न किसी चमकते हुए आदर्श की जरूरत है और उसे देखे बिना उस ओर बढ़े बिना सुख नहीं मिलता !' अचला अपने जीवन को इन्हीं आदर्शों के अनुरूप ढाल लेती है। महत्वाकांक्षी पात्रों का नकाब उलट देने पर उनकी सूरत सर्वत्र पहचान ली जाती है। इनके इन आदर्शवादी पात्रों में गहरा द्वन्द्व—भौतिक या आध्यात्मिक—नहीं आ पाया है। कदाचित इसका मुख्य कारण यह है कि सेठ जी के जीवन में भी द्वन्द्व और संघर्ष की सघनता प्रवेश नहीं पा सकी है।

सेठ जी के पात्रों के नामकरण के मूल में भी उनका आदर्श झाँकता रहता है। दीनानाथ और गरीबदास नाम से ही उनके चरित्रों के आदर्शात्मक अंश बहुत कुछ स्पष्ट हो जाते हैं। शायद ये 'यथानामो तथा गुणः' के हिमायती हैं, अन्यथा यशपाल यशलोलुप, श्री निवास संमान और प्रतिष्ठा का अभिलाषी, विद्या भूषण आत्माभिमानी, सुखदा सुखदात्री, अचला आदर्शों के प्रति अविचल निष्ठावान न बन पाती।

इनके सामाजिक-राजनीतिक नाटकों का अन्त प्रायः करुण वातावरण में होता है, लेकिन यह करुणा उतनी तीखी नहीं है जो जी को कचोट ले। सेठ जी का जो जीवन-दर्शन उनके नाटकों में अभिव्यक्त हुआ है उसके लिए वैसा करना आवश्यक भी नहीं था। यह करुणा जीवन के किसी न किसी उदात्त आदर्श से अनुप्राणित है। ऐसी स्थिति में पाठकों के सम्मुख वैयक्तिक करुणाजनक वातावरण की पृष्ठभूमि पर जो मंगलमय आदर्श प्रतिष्ठित हुआ है वह प्रमुख हो उठता है। अपने जीवन में अनेक संघर्षों के देखने

के बाद भी उन्हें जो सुख-शांति मिली है वही उनके नाटकों के अंत में भी प्रतिध्वनित हुई है। 'गरीबी या अमीरी' में उपसंहार का कार्य सुख-संतोष उत्पन्न करना ही है, अन्यथा टेकनीक की दृष्टि से नाटक पहले ही समाप्त हो जाता है।

पृथ्वीनाथ शर्मा और अश्क

पृथ्वीनाथ शर्मा और अश्क दोनों मध्यवर्गीय कलाकार हैं। आधुनिक शिक्षा के परिणाम स्वरूप मध्यवर्ग के विचारों में, उनकी रहन-सहन में पर्याप्त उलट-फेर हुआ है—विशेष रूप से प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में। आधुनिक शिक्षित युवक-युवतियों के जीवन में प्रेम और विवाह सम्बन्धी अनेक प्रकार की रोमांटिक धारणाएँ घर कर गई हैं और वे वस्तु स्थितियों को नजरअन्दाज कर कल्पना की रंगीन बस्तियाँ बसाने लगे हैं। पर वास्तविक जीवन की कठोरताओं से टकरा कर उनके हवाई महल और काल्पनिक बस्तियाँ चकनाचूर हो जाती हैं। वास्तविक और रोमांस का यह विरोध ही इनकी रचनाओं का मेरुदंड है।

पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' नाटक को ही लीजिए। इसमें उच्च-शिक्षा प्राप्त एक युवती के प्रेम और विवाह की समस्या है। इसकी नायिका सुधा का प्रेम भावुकता पूर्ण है, स्वप्न की रंगीन किरणों से बुना हुआ। उसका भावुक मन उत्तेजना की राह खोजता रहा है, आकाश के रूपहले तारों के पीछे भागता रहा है। इससे ऊब कर वह एकरस वैवाहिक जीवन से समझौता करने का निश्चय करती है। पर अंत में उसकी जिन्दगी 'न खुदा ही मिला न वस्ले सनम' को चरितार्थ कर टूट जाती है अथवा 'दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम' का जीवंत प्रतीक बन कर रह जाती है।

इसके कथानक में भी प्रेम का वही लोकप्रिय त्रिकोण है—दो पुरुष और एक नारी। ये सभी पात्र उच्च शिक्षा प्राप्त हैं—लंदन

रिटर्नड'। केशव बैरिस्टर है और विनय बेकार युवक—दोनों सुधा के प्रेमी हैं। पर केशव नारी की भावुकता को कुरेद कर उसे बर-गलाने में परम आधुनिक है और विनय निराशाजन्य उद्विग्नता से ओत-प्रोत आत्माभिमानी प्रेमी।

अश्क के 'स्वर्ग की झलक' में विवाह-सम्बन्धी रोमांटिक धारणा पर व्यंग्य है। पर अश्क का व्यंग्य शर्मा जी के व्यंग्य की अपेक्षा अधिक व्यापक और गहरा है। कम से कम नाटककार ने इस दिशा में प्रयास अवश्य किया है जिससे उसमें गहराई और व्याप्ति का समावेश हो सके। यद्यपि 'दुविधा' में सुधा का द्वैध विशेष परिस्थितियों के कारण बना रहता है फिर भी पाठक स्वयं किसी दुविधा में नहीं रहता। उनके सामने रोमांटिक प्रेम का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। पर विवाह के चित्र की धुँधली लकीरें, उसकी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत नहीं कर पातीं। अश्क ने 'स्वर्ग की झलक' में कुछ ऐसी नाटकीय परिस्थितियाँ पैदा की हैं जो तथा-कथित उच्च शिक्षा प्राप्त कुमारियों के विवाह करने की ललक पर तीव्र आघात करती हैं। 'स्वर्ग की झलक' को दुविधा का अगला कदम कहा जा सकता है। 'दुविधा' में जहाँ रोमांटिक प्रेम पर प्रहार किया जाता है वहाँ 'स्वर्ग की झलक' में रोमांटिक प्रेम पर आधारित विवाह के खोखलेपन पर।

उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों से विवाह करने के मूल में जो मनोवृत्ति काम कर रही है वह या तो आर्थिक है या फिर रोमान्टिक, जिसमें बाह्य-प्रदर्शन और साज-सज्जा का प्राधान्य है। 'स्वर्ग की झलक' के रघुनन्दन को धर्मपत्नी के रूप में दरजिन, रसोइया या गुड़िया नहीं चाहिए। उसे उच्च शिक्षा प्राप्त पत्नी चाहिए क्योंकि समाज में उसका दर्जा ऊँचा हो गया है, क्योंकि अशोक की पत्नी बी० ए० है, राजेन्द्र की एम० ए०, सत्य की एम० बी० बी० एस०। पर रघु का यह सपना अशोक के घर जाकर लड़खड़ा जाता है, राजेन्द्र के

घर भूमि चूसने लगता है और कंसर्ट पार्टी का आयोजन देखकर टूट जाता है। ज्यों ही उसके भ्रम का पर्दाफाश होता है वह मामूली पढ़ी-लिखी रक्षा को अपनाने में ही अपना और अपने घर का कल्याण देखता है।

इस नाटक के सारे के सारे पात्र मध्यवर्ग के हैं जो ऊपर-ऊपर से भरे रहने पर भी कितने रीते हैं! अशोक और राजेन्द्र तो मध्य-वर्गीय बाबुओं का जीवंत कैरिकेचर हैं। अशोक अपने घर की प्रतिष्ठा बचाने के लिए झूठमूठ अपनी ग्रैजुएट पत्नी को बीमार बना देता है और अपने आमंत्रित अतिथि रघु को तंदूर के परोठे पर टरका देता है। पर कंसर्ट में श्रीमान और श्रीमती अशोक दोनों का सम्मिलित होना तथा संयोग से रघु का इन्हें देख लेना—उनकी मध्यवर्गीय घरेलू प्रतिष्ठा पर अत्यन्त चुभता हुआ व्यंग्य है। राजेन्द्र को व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है पर उसे मिल नहीं सकता था। रघु के यह कहने पर कि तुम दुर्बल हो राजेन्द्र जो उत्तर देता है वह सत्य के अत्यन्त निकट है। 'तुम इसे दुर्बलता कहते हो, मैं इसे दूरदर्शिता समझता हूँ। पत्थर को समझाओ तो सिर दर्द लो, उससे टकराओ तो माथा फोड़ो।' कितनी विवशता भरी खीझ है। वैसी परिस्थिति में उस भयानक कुण्डली-चक्र से छूट पाना सहज नहीं है।

'दुविधा' और 'स्वर्ग की झलक', दोनों की टेकनीय सुलझी हुई और साफ़ है। कथाएँ इकहरी, संवाद संक्षिप्त पर प्रभावशाली, कथानक गतिशील और चरित्र की रेखाएँ स्पष्ट और उभरी हुई हैं। पर कई दृष्टियों से अश्क का नाटक पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक से भिन्न हो जाता है। अश्क नाटकीय स्थितियों (ड्रामैटिक सिचुएशनस) के निर्माण में अत्यन्त कुशल है जिससे उनके नाटकों में सजीवता और अभिनेयता अपने आप आ जाती है। 'कंसर्ट' में रघु और अशोक-दम्पति का मिलन एक ऐसी ही स्थिति है। फिर दुविधा की कथावस्तु उस विकसनशील पद्धति पर चलती है जो नाटकीय आदि, मध्य

और को अंत को सीधी रेखा में मिला देती है। 'स्वर्ग की झलक' की कथावस्तु में कथा की घात-प्रतिघातात्मक परिपाटी गृहीत हुई है जो अपने आप में अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय है। अंत में भाई साहब के कथन ने नाटक को स्थूल परिसमाप्ति से बचाकर उसमें नया आकर्षण पैदा कर दिया है।

'छठाँ बेटा' अश्क का दूसरा सामाजिक व्यंग्य है। इनमें एक ओर तो सफेदपोश स्वार्थी मध्यवर्ग की नई पीढ़ी पर व्यंग्य है तो दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी की छलनामयी आशा का निर्मम चित्रण। अवकाश प्राप्त वसंतलाल को उसके पाँच पुत्र—उच्च शिक्षा प्राप्त पुत्र—अपने पास नहीं रखना चाहते। ऐसी स्थिति में उसकी आशा खोए हुए छठे पुत्र पर जा टिकती है। लेकिन क्या पता कि छठा पुत्र भी अपने भाइयों से भिन्न होता! स्वप्न में वसंतलाल को तीन लाख की लाटरी मिलने पर उनके पुत्रों का जो रंग बदलता है वह उनके वास्तविक रूप का बुरी तरह उद्घाटन करता है।

पर स्वप्न में वसंतलाल के पुत्रों के बदले हुए रूप-रंग को जिस ढंग से चित्रित किया गया है वह बड़ा ही स्थूल हो गया है। देव का यह कथन कि परमात्मा की सौगंध, सौ रुपए के लिए तो आदमी सौ जूते खा सकता है अथवा यह कि 'चालीस रुपया मासिक के हिसाब से मात्र ४२० रुपया…फिर यदि १०० जूते खाने के बदले सौ रुपया मिल जाय तो क्या बुरा है' जी० पी० श्रीवास्तव की याद दिलाता है। कैलाश का खड़ी चोटी के सम्बन्ध में जो तर्क है वह भी उसी प्रकार सस्ते मनोरंजन का विषय है। कहना न होगा कि इस नाटक में हास्य का सृजन सतह से ऊपर नहीं उठ पाया है। इसलिए इस व्यंग्य में वह तीखापन नहीं है जो जी को तिलमिला देता है, इसमें वह पैनापन नहीं है, वह धार नहीं है जो सड़े-गले फोड़ों को जड़ से साफ कर दे।

इस प्रकार के हल्के हास्य की सृष्टि को समझने के लिए आव-

श्यक है कि लेखक की तत्कालीन मानसिक स्थिति स्पष्ट कर ली जाय। भूमिका में उसने स्वयं लिखा है कि उस समय वह अनेक प्रकार की मानसिक परीशानियों से गुजर रहा था। इन मानसिक परीशानियों को दूर करने के लिए 'छठाँ बेटा' को जन्म दिया गया। प्राणिशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से विचार करने पर गर्भस्थ बालक को स्रष्टा की शारीरिक और मानसिक व्याधियों से आक्रान्त होना अनिवार्य-सा होता है। स्वस्थ व्यग्य-विनोद के लिए स्वस्थ मस्तिष्क का होना प्राथमिक आवश्यकता है। मानसिक परेशानियाँ जितनी उलझन पूर्ण होंगी उसे दूर करने के लिए व्यंग्य और विनोद भी उतना ही हल्का होगा। 'स्वर्ग की झलक' लिखते समय कदाचित् लेखक इस तरह की मानसिक परेशानियों में उलझा हुआ नहीं था। यही कारण है कि उसका व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक संयमपूर्ण और तीखा हो सका है।

टेकनीक की दृष्टि से यह स्वप्न-नाटक कहा जा सकता है, क्योंकि इसका मुख्य भाग स्वप्न में ही घटित होता है। स्वप्न के धुंध पड़ने पर छाया-प्रतिमाओं के सृजन का फिल्मी प्रयोग नाटकीय शिल्प की दृष्टि से नवीन और श्लाघ्य है।

उदयशंकर भट्ट

भट्ट जी के सामाजिक नाटकों में 'क्रांतिकारी' और 'नया समाज' मुख्य हैं। 'क्रांतिकारी' में सामान्य गांधीवादी आंदोलनों के बीच-बीच उठनेवाले क्रांतिकारी आंदोलनों को चित्रित किया गया है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इनके महत्त्व को अस्वीकार करना तथ्य को झुठलाना है। गांधीवादी आन्दोलनों को लेकर चलने वाले विषयों को छोड़कर इस नए विषय को कथावस्तु के रूप में ग्रहण करना भट्ट जी की दृष्टि से नएपन का द्योतक है।

क्रांतिकारी जीवन की साहसिकता, अद्भुत देशभक्ति, अपूर्व त्याग-निष्ठा, रोमांचकारी अनुशासन-प्रियता आदि का चित्रण बहुत

ही प्रभावशाली ढंग से किया गया है। पर क्रांतिकारी आंदोलन का जो आदर्श-स्वरूप इस नाटक में प्रस्तुत किया हुआ है वह मानवीय संवेदना से बहुत कुछ रिक्त है।

दिवाकर सच्चे क्रांतिकारी का प्रतीक है। उसकी अव्याहत चारित्रिक दृढ़ता, दलगत अनुशासन के नाम पर निर्मम बलिदान की अडिग आकांक्षा क्रांतिकारी आंदोलन का जीवंत चित्र उपस्थित करती है फिर भी वह जरूरत से ज्यादा वाचाल हो गया है। क्रांतिकारी का संयम और गोपन उसमें प्रायः नहीं दिखाई पड़ता। पर पुलिस द्वारा उसके परिवार को जिस नारकीय यंत्रणा में झुलसना पड़ा उसमें उसका चरित्र तपे हुए सोने की भाँति और भी खरा हो जाता है। मनोहर सिंह का अन्तर्द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्तियुक्त बन पड़ा है। लेकिन वीणा को जो अतिशय भावुकता पूर्ण 'रोल' अदा करना पड़ा है वह स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। लगता है एक पूर्व निश्चित योजना को पूर्ण करने के लिए उसे एक निश्चित साँचे में ढाल दिया गया है।

'क्रांतिकारी' के संवादों में काफी जान है—विशेषरूप से दिवाकर के। पर दिवाकर के संवादों की बौद्धिकता, वक्रता, व्यंग्य, वैदग्ध्य एक ओर नाटक को प्राणवान बनाते हैं तो दूसरी ओर उसके क्रांतिकारी चरित्र को कमजोर। पर सब मिलाकर संवाद काफी अच्छे बन पड़े हैं। रंगमंच पर इसे सफलता पूर्वक उतारा जा सकता है।

'नया समाज' में यद्यपि अंत में नए समाज के निर्माण का संकेत मिलता है फिर भी इसकी मुख्य समस्या प्रेम, विवाह और रोमांस की समस्या ही है। भट्ट जी ने नाटक की भूमिका में लिखा है कि '...पर बात केवल यही नहीं है कि यह नाटक जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर है; इसमें और भी है।...' सच पूछिए तो इसमें और अधिक है और जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर कम। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के कारण जमींदारों की आर्थिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है और

उसके फलस्वरूप उनकी रहन-सहन, विचार, धारणा और सामाजिक संबंधों को जो प्रबल धक्का लगा है वह नाटक की विषय-वस्तु के अन्तर्गत प्रायः नहीं आ सका है। इसलिए 'नया समाज' का कोई साफ नक्शा सामने नहीं उभर पाता। चंदू-रीटा के रोमांस और कामना की यौन विकृतियों (Sexual Perversion) में अधिक उलझ जाने के कारण नए समाज की गहराई में उतरने के लिए नाटककार को अवकाश नहीं मिल पाया है।

अन्य नाटककार

अन्य सामाजिक नाटकों में गोविन्द वल्लभ पंत के 'अंगूर की बेटी', वृन्दावनलाल वर्मा के 'खिलौने की खोज', 'लो भाई पंचो लो' 'पीले हाथ' आदि भगवती चरण वर्मा के 'और रुपया तुम्हें खा गया' और लक्ष्मी नारायण लाल के 'अंधा कुँआ' का उल्लेख किया जा सकता है।

'अंगूर की बेटी' में मद्यपान का दोष दिखलाया गया है। इस नाटक में समाज की जो स्थूल समस्या उठाई गई है उसमें जीवन की गहराई को खोजना व्यर्थ है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'खिलौने की खोज' में ग्रामीण झगड़े, भूत प्रेत की जो समस्याएँ उठाई गई हैं वे आत्यंतिक रूप से स्थूल और सतही हैं। 'लो भाई पंचो लो' और 'पीले हाथ' इसीलिए नाटक हैं कि वे नाटक के रूप में लिखे गए हैं।

भगवतीचरण वर्मा के नाटक 'रुपया तुम्हें खा गया' में रुपए की उपासना पर व्यंग्य किया गया है। उनका कहना है—'आज का हर एक व्यक्ति रुपए को महत्त्व देता है। रुपए की शक्ति सुख-सुविधा को खरीद सकती है—ऐसा लोगों का ख्याल है। और एक बार जब रुपए की शक्ति को स्वीकार कर लिया गया तब मानव उस रुपए का दास बन जाता है। आज के समाज में अधिकांश लोग इस रुपए की शक्ति के उपासक हैं और यही गलत मान्यता समाज के कल्याणकारी

विकास• बाधक है।' मानिकचन्द तथा उसके परिवार के समस्त सदस्य रुपए के व्यामोह में इस बुरी तरह जकड़ गए हैं कि उसके बाहर उनकी गति नहीं है। इनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति के चित्रण में लेखक ने काफी सूझ-बूझ से काम लिया है। मानिकचन्द बड़ा ही जीवंत पात्र है।

सच पूछिए तो इस नाटक में दो विरोधी मनोवृत्तियों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। मानिकचन्द तथा उसके परिवार के अन्य सदस्य असंतोष, हृदयहीनता और घोर भौतिकता के प्रतीक है तो डाक्टर और किशोरी लाल कर्त्तव्य, प्रेम और भावना के प्रतीक। पिछले पात्रों को लेखक ने उन मान्यताओं का प्रतीक कहा है जो सत्य और शाश्वत हैं। पर डाक्टर और किशोरीलाल को आदर्शवादी बनाने के कारण नाटक यथार्थ से थोड़ा दूर पड़ जाता है। समाज में ऐसे कितने लोग हैं? फिर इस प्रकार के आदर्श पात्रों के निर्माण से नाटक की प्रभावान्वित में बहुत कुछ कमी आ जाती है। मानिकचन्द के आगे डाक्टर और किशोरी लाल पादरी के उपदेश के समान रसहीन और व्यक्तित्व शून्य लगने लगते हैं।

मानिकचन्द की चोरी का दृश्य बीच में डालकर लेखक ने नाटकीय कौशल जरूर दिखलाया है जो नाटक की अभिनेयता को प्रभावपूर्ण बनाने में उचित योग देता है।

परिशिष्ट १

हिंदी-एकांकी

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नाटकों की चर्चा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एकांकी नाटकों के संबंध में लिखा है—'दो एक व्यक्ति अंग्रेजी में एक अंक वाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढंग के दो एक एकांकी नाटक लिखकर उन्हें बिलकुल नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अंक वाले कई उपरूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए हैं।' फिर तो शुक्ल जी की इस सूक्ति का भाष्य करते हुए लोगों ने अपने तर्कों का ताना-बाना यहाँ तक फैलाया कि हिन्दी-एकांकी की एक लम्बी-चौड़ी परम्परा ही खड़ी कर दी।

इनके तर्कों को पुष्ट करने के लिए 'साहित्य-दर्पण' में एक अंक वाले कई नाटकों के उदाहरण भी मिल गए। विश्वनाथ ने दस रूपकों में से भाण, व्यायोग, ईहामृग, अंक और प्रहसन को एक अंक का ही माना है। इसी प्रकार उपरूपकों में गोष्ठी, नाट्यरासक, काव्य, प्रेंखण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश और भाणिका, भी एक अंक के हैं। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने इन एक अंक वाले रूपकों में से भाण, नाट्यरासक, प्रहसन आदि की रचना भी की है। इन नाटकों में दृश्य के स्थान पर अंक लिख दिया गया है। यदि अंकों के स्थान पर दृश्य लिख दिया जाय तो इनका बाह्य ढाँचा बहुत कुछ एकांकी-सा हो जाय। भारतेन्दु के ढर्रे पर राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने भी एकांकियों की रचना की।

तो क्या इनको आज के एकांकी का पूर्व रूप मान लिया जाय? आज के एकांकी को उसकी परंपरा का अगला कदम स्वीकार कर लिया जाय? पूर्वग्रह-मुक्त होने पर उनका उत्तर नकारात्मक होगा। आधुनिक एकांकी के पीछे पुरातन तथा कथित एकांकियों की कोई प्रेरणा नहीं है। उन एकांकियों में आधुनिक एकांकी का रंग-निर्देश क्रिया-क्षिप्रता, गतिशीलता, संकलन-त्रय, संवादों की चुस्ती, उद्देश्य, सांकेतिकता—सब कुछ का अभाव है। संस्कृत-नाटकों की सारी कला-स्थूलता से बोझिल भारतेन्दु युगीन कथित एकांकियों के विकास का रुक जाना सर्वथा स्वाभाविक था। मनोवैज्ञानिक संघर्षों के अभाव तथा यथार्थहीनता के दुर्बल पंखों पर आगे उड़ चलने की शक्ति उनमें नहीं थी।

भारतेन्दु-युग के अनतर जब लोगों का मन नाटक लिखने में न रमा तो एकांकी नाटकों की कौन चिंता करता? हाँ, बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत नाटकों के अनुवाद खूब हुए। भारतेन्दु-युग में अंग्रेजी का प्रभाव बंगला के माध्यम से पड़ा। एकांकी का चलन तो तब हुआ जब शिक्षित मध्यवर्ग ने अंग्रेजी से सीधे संपर्क स्थापित कर लिया। सच पूछिए तो यह आधुनिक युग का पौदा है जो आधुनिक युग की मिट्टी और वातावरण के खाद-पानी लेकर पुष्ट हो रहा है।

अंग्रेजी एकांकी का आरंभ

अंग्रेजी में भी एकांकी का प्रचलन बहुत बाद में हुआ; उसके प्रचलन का तो बड़ा रोचक और विचित्र इतिहास है। पाँच-छः दशक पूर्व लन्दन के रंगमंच के अधिकारी प्रेक्षागृह में पहले ही पहुँच जाने वाले सामाजिकों के मनोरंजनार्थ एक छोटे-मोटे नाटक का आयोजन कर दिया करते थे। इस आयोजन का मुख्य प्रयोजन था वास्तविक नाटक के आरंभ होने के समय तक आगत सामाजिकों को अटकाए रखना और देर करके आने वालों की प्रतीक्षा करना।

इस प्रकार के नाटक को पट-उत्थानक (करटेन रेजर) कहा जाता था। अक्टूबर १९०३ में लंदन के प्रसिद्ध थिएटर 'वेस्ट-एण्ड' में जो घटना घटी वह नाटक के प्रबंधकों को विकल करने वाली सिद्ध हुई। उस समय डब्लू० डब्लू० जैकब की कहानी 'दी मंकीज पॉ' का रंगमंचीय रूपान्तर, जो लुई पार्कर द्वारा प्रस्तुत किया गया था, पट-उत्थानक (करटेन रेजर) के रूप में खेला गया। इसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि मूल नाटक को बिना देखे हुए ही बहुत से लोग चले गए। इसके फलस्वरूप प्रबंधकों ने पट-उत्थानकों का खेलना बन्द कर दिया।

पट-उत्थानक का व्यावसायिक रंगमंच से बहिष्कृत होने का परिणाम अच्छा ही हुआ। वह एक नूतन नाटकीय विन्यास में पुन: लोगों के सम्मुख आया। शहर से निष्कासित होकर इसने गाँवों को अपना अड्डा बनाया। व्यावसायिक मंच की कृत्रिमता और पिटी हुई परंपराओं से मुक्त होकर उसमें विषय-वस्तु की व्यापकता, कल्पना की रंगीनी और बौद्धिक तेजस्विता सन्निविष्ट हो गई। वहाँ पर तो अब कदाचित् ही कोई गाँव हो जहाँ पर नाट्य मंडलियाँ न हों। पहले की एमेचर नाट्य मंडलियाँ लंदन में अभिनीत किसी नाटक की नकल करती थीं, पर नए नाटकों ने एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया कि लोगों ने इस आन्दोलन का अपूर्व स्वागत किया और अंग्रेजी-साहित्य में एकांकी नाटकों ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया।

हिन्दी-एकांकी

अंग्रेजी एकांकी नाटकों के आदि स्रोत का पता लग जाने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एकांकी बड़े नाटकों का अंग कभी भी न रहा। यह स्वतंत्र रूप से जन्मा और कालान्तर में इसने अपनी टेकनीक भी बना ली। हिंदी में एकांकी नाटकों का आविर्भाव अपेक्षाकृत विलंब से हुआ। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। जब

हिंदी-गद्य का विकास ही बहुत बाद में हुआ तब उसके विविध रूपों की सृष्टि विलम्ब से होती ही। डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद के 'एक घूँट' को हिंदी का प्रथम एकांकी माना है। यद्यपि अपने नाटकों के टेकनीक में प्रसाद ने पूर्वी और पश्चिमी दृष्टियों के समन्वय की ओर ध्यान दिया है तथापि 'एक घूँट' आधुनिक अर्थ में एकांकी नहीं कहा जा सकता। संवाद, क्रिया, गत्वरता आदि की दृष्टियों से 'एक घूँट' का पल्ला पुरानी परिपाटी से अभी छूट नहीं पाया है। फिर भी शास्त्रीय विधानों की हूबहू नकल न करने के कारण प्रसाद की खुली दृष्टि ने नव्यतर आदर्शों और नवीन टेकनीक की उपेक्षा नहीं की है। अतएव, हिन्दी-एकांकी का विकास-क्रम निर्धारित करने के लिए 'एक घूँट' को प्रथम हिन्दी-एकांकी मान लेना असंगत न होगा।

भुवनेश्वर प्रसाद

सन् १६३५ में भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवाँ' का प्रकाशन हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में नया प्रयोग था। 'कारवाँ' में संगृहीत नाटकों की विषय-वस्तु और शैली दोनों पर पाश्चात्य विचार-धारा की स्पष्ट छाप है। जैसा प्रायः कहा जाता है कि वे शा और इब्सन से प्रभावित हैं पर गहराई में बैठने पर लगता है कि उन्होंने शा और डी० एच० लारेन्स को बुरी तरह संमिश्रित (confused) कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक के प्रति भी ईमानदारी नहीं बरती जा सकी। उनके एकांकियों में न शा के सोद्देश्य व्यंग्य मिलेंगे न लारेंस के शरीरी प्रेम की बिभुक्षा। उनके प्रत्येक एकांकी में एक अजीब नैराश्य (frustration), मायूसी और लाचारी है। इनके प्रति लेखक की जो आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया हुई है उसमें क्षोभ, खीझ, नोच-खसोट अधिक दिखाई पड़ती है। यह क्षोभ कुछ इतनी गहराई से उत्पन्न होता है कि उसकी आवेगमयता उसके दृष्टिकोण को असंतुलित बना देती है और जीवन के प्रति वह अतिशय निषेधात्मक हो उठता है।

इस क्षोभ का परिणाम यह हुआ कि किसी समस्या या मर्म के उद्घाटन में एक तीखापन आ गया है और यह तीखापन इनके नाटकों की विशेषता है। लेकिन इससे एक ओर जहाँ एकांकियों में प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि हुई है वहाँ दूसरी ओर संतुलन बिगड़ गया है। संतुलन के बिगड़ जाने का एक और भी कारण है। वह पाश्चात्य मूल्यों के प्रति इतना अधिक मोहग्रस्त हो गया है कि पूर्वीय विचारणाओं से समझौता कर सकना उसके लिए दूर की वस्तु हो गई है।

भुवनेश्वर की टेकनीक की शक्ति के संबंध में दो मत नहीं हैं। वस्तु-विन्यास स्पष्ट, गतिशील और चरम सीमा पर जाकर समाप्त हो जाने वाला है। भाषा की व्यंजकता, उपमाओं की नवीनता, सूक्ष्म रंग-संकेत आदि में भी वे बेजोड़ हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा

डॉ० वर्मा हिंदी-एकांकी के जन्मदाताओं में से हैं। ये आदर्शवादी कलाकार हैं किन्तु इनकी आदर्शवादिता का मूलाधार है वास्तविकता। जीवन की वास्तविकताओं को कल्पना के सहारे वे आदर्शवादी मोड़ दे देते हैं। यथार्थवाद के नाम पर गंदे, कुत्सित और वासनात्मक चित्र आँकना उन्हें वाँछनीय नहीं है। यह आदर्शोन्मुखता इनके एकांकियों में प्रारंभ से ही मिलती है।

इन्होंने मुख्य रूप से दो प्रकार के नाटक लिखे हैं—एक में रूप-यौवन और प्रेम के प्रश्न उठाए गए हैं और दूसरे में, जो ऐतिहासिक हैं, उदात्त आदर्शों की स्थापना की गई है। पहले प्रकार के नाटकों को भी दो कोटियों में बाँट सकते हैं—पति-पत्नी की प्रेमपरक समस्याओं का चित्र उपस्थित करने वाले एकांकी और परिवार के बाहर उत्पन्न प्रेम या सेक्स से संबद्ध एकांकी।

पति-पत्नी के बीच उठने वाले संघर्षों को चित्रित करते हुए उन्होंने पत्नी को सर्वथा भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित सिद्ध किया है।

'एक्ट्रेस' की प्रभातकुमारी उच्छृङ्खल पति द्वारा उपेक्षित हो जाने पर एक्ट्रेस के रूप में भी उसके प्रति आदर-श्रद्धा का भाव बनाए रखती है और अब भी अपने को पति की ही पत्नी समझती है। 'परीक्षा' की अल्पवयस्का पत्नी काफी अधिक उम्र वाले पति के प्रति सहज प्रेम और भक्ति करती हुई दीख पड़ती है। '१८ जुलाई की शाम' की शिक्षित उषा एक रंगीन व्यक्ति के जाल में फँसते-फँसते रह जाती है क्योंकि उसे ठीक समय पर अपने पति के गौरव का बोध हो जाता है। 'रेशमी टाई' की ललिता भी अपने उचक्के पति की सम्मान-रक्षा करती है। लेकिन आदर्शवाद का परिणाम यह हुआ है कि कथा को एक सुनिश्चित योजना का अनुवर्ती होना पड़ा है। इसलिए कथा कीअपेक्षित स्वच्छन्दता मारी जाती है। '१८ जुलाई की शाम' एकांकी लीजिए। उषा जैसी भावुक और यौवनोन्माद से ग्रस्त लड़की की पति की महत्ता सुनकर परिवर्तित हो जाना सहज तो नहीं ही कहा जा सकता। उषा का अशोक के साथ देहरादून जाने से इनकार कर देने के बाद भी कथा का जो विकास किया गया है वह आदर्श की सीमा का अतिक्रमण कर देता है। पारिवारिक विषय वस्तु के बाहर भी जहाँ उन्होंने नारी को केन्द्र में रखा है वहाँ पुरुष को उसका रक्षक माना गया है। उदाहरण के लिए 'रजनी की रात' का उल्लेख किया जा सकता है।

इन एकांकियों की अपेक्षा उनके ऐतिहासिक नाटक अधिक सफल माने जायेंगे। यद्यपि इन एकांकियों में भी त्याग, उदारता, दया, क्षमा आदि उदात्त भारतीय आदर्शों को सम्मुख रखा गया है फिर भी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में वे बहुत कुछ स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। शिवाजी की चारित्रिक दृढ़ता, समुद्रगुप्त की क्षमा-तितिक्षा, औरंगजेब का पश्चाताप एक आदर्श को ही प्रस्तुत करते हैं।

आदर्शवाद के प्रति अत्यधिक मोह के कारण डा० वर्मा मध्य-कालीन वातावरण के बाहर नहीं झांक सके हैं। उनकी नारियाँ

आज के जमाने में भी अतिशय भावुक (सेंटीमेंटल) हैं। नई शिक्षा और व्यक्तिवाद की पुकार का जैसे उनका कोई संपर्क ही नहीं हो पाया है। नई शिक्षा के प्रभाव को उन्होंने बहुत स्थूल अर्थ (फैशन परस्ती) से लिया है। इसलिए मध्यवर्गीय शिक्षित महिलाओं को पात्र के रूप में ग्रहण करके भी वे उनकी नवीन समस्याओं से प्रायः अछूते से रहे हैं।

जहाँ तक टेकनीक का प्रश्न है डॉ॰ वर्मा ने कथा के विकास को स्वाभाविक पद्धति पर चलाने की कोशिश की है पर विश्लेषण के प्रति उनके अध्यापक का अधिक सचेत होना एकांकियों की अपेक्षित गति का बाधक सिद्ध हुआ है। आदर्शवादिता को अति विस्तृत बनाने का परिणाम भी एकांकियों की गत्वरता को रुद्ध करता है। '१८ जुलाई की शाम' को तो व्यर्थ में ही बहुत दूर तक घसीटा गया है। पर जिन एकांकियों में मानसिक द्वंदों को लिया गया है वे शिल्प की दृष्टि से अच्छे बन पड़े हैं। जैसे 'औरंगजेब की आखिरी रात।'

सेठ गोविंददास

सेठ गोविन्ददास कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्त्ता तथा सरस्वती के आराधक हैं उनके ऊपर गांधीवादी विचार-धारा की गहरी छाप है। इसलिए स्वाभाविक है कि उनके एकांकियों की विषय-वस्तु राजनीतिक-सामाजिक होती। पर ये समस्याएँ बहुत कुछ गांधीवादी विचार-धारा के ऊपरी सतह का ही स्पर्श करती हैं, गांधी जी की गहन दार्शनिकता को उनके एकांकियों में स्थान नहीं मिल पाया है। सेठ जी चिंतक की अपेक्षा कार्यकर्त्ता अधिक हैं, इसलिए उन्होंने गांधी-दर्शन की स्थूल समस्याओं को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या, किसान-जमींदार का द्वन्द्व, अस्पृश्यता निवारण की समस्या, हिंसा-अहिंसा, राजाओं की आदर्श प्रजा-वत्सलता आदि को उनके एकांकियों में गृहीत किया गया है।

सेठ जी ने टेकनीक सम्बन्धी कई प्रयोग किए। उन्होंने मोनो-

ड्रामा भी लिखे हैं। इनमें एक तो संस्कृत के आकाशभाषित के ढंग का है और शेष में किसी वस्तु या प्राणी को सम्बोधित करता हुआ पात्र अपनी अभिव्यक्ति करता है। अकेले सेठ जी ने ही मोनोड्रामा लिखे हैं। मोनोड्रामा में केवल एक पात्र ही बोलता है, इसलिए पात्र का अन्तः संघर्ष जितना सघन और तीव्र होगा मोनोड्रामा भी उतना ही सफल माना जायगा। इन एकांकियों में भी सेठ जी ने गहनतर समस्याएँ नहीं ली हैं। काल-संकलन की बाधा दूर करने के लिए उन्होंने एकांकी के प्रारंभ और अंत में उपक्रम और उपसंहार का उपयोग किया है।

उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर भट्ट ने जीवन को निकट से देखने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में नाटकों में रस-सचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का रहना परमावश्यक है। उच्च और मध्य वर्ग की जीवन-विडम्बनाओं को चित्रित कर उन पर गहरी चोट करना उनकी प्रमुख बिशेषता है।

उनके प्रारम्भिक एकांकियों में उपर्युक्त प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगती है। 'नेता', 'उन्नीस और पैंतीस' 'वर-निर्वाचन' आदि में मध्य वर्ग के नकली चेहरे को उतार फेंकने में उन्होंने बड़े ही कौशल से काम लिया है। नेतृवर्ग कितना परउपदेश कुशल है, इसे 'नेता' में उद्घाटित किया गया है। 'उन्नीस सौ पैंतीस' में आज की शिक्षा के खोखलेपन का पर्दाफाश हुआ है।

'स्त्री का हृदय' में संगृहीत एकांकी-संग्रह में भी भीतर पैठकर मर्मोद्घाटन करने का प्रयास ही किया गया है। 'स्त्री का हृदय' में अंजना को ऐसी मनोवैज्ञानिक भूमियाँ दी गई हैं कि उसका चरित्र बड़ा ही मर्मस्पर्शी हो गया है। 'बड़े आदमी की मृत्यु' में बड़प्पन के खोखलेपन को उद्घाटित किया गया है। 'विष की पुड़िया' में अंतिम 'स्ट्रोक' द्वारा—सौतेली बहन का मरणासन्न भाई के लिए

बिल्ली के बच्चे का ले आना—एकांकी की अवसादमयता को बहुत सघन और वेदना को काफी गहन बना दिया गया है। पर जहाँ पर भट्ट जी ने समस्याओं के भीतर पैठने का प्रयत्न नहीं किया है वहाँ का कथानक सपाट और चरित्र स्थूल हो गया है। 'दस हजार' एक ऐसा ही एकांकी है।

इधर स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भी लोग पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से चिपटे हुए भारतीय जीवन मूल्यों से अनास्थावान बने हुए हैं। 'पर्दे के पीछे' संग्रह के अधिकांश एकांकियों में परदे के अपर पार्श्व को उद्‌घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता और पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार हमारी संस्कृति का मूल्यांकन कर रही है—इस पर भट्ट जी की दृष्टि गई है। भट्ट जी न तो सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद में विश्वास करते हैं और न पाश्चात्य सभ्यता की अतियों में। वे नए-पुराने मूल्यों के संतुलन में ही जीवन की वास्तविकता देखते हैं।

'नई बात' इस संग्रह का पहला एकांकी है। आज श्रेष्ठता का एकमात्र मापक अर्थ है। इस आर्थिक श्रेष्ठता तथा तज्जन्य सामाजिक मर्यादा ने सांस्कृतिक मूल्यों को इस प्रकार ढँक लिया है कि वे हीन दृष्टि से देखे जाने लगे हैं। सुनन्दा, कुन्तल और किशोरीलाल कवि का मूल्य नहीं समझ पाते। उसकी महत्ता से अभिभूत सुनन्दा उसे सहायतार्थ कुछ नोट भेंट करती है। कवि उन्हें गरीबों में बाँट देता है। इसी को सब लोग नई बात कहते हैं। यह वर्ग उसका त्याग और औदार्य देखकर चकित हो गया। पर कवि की उदाराशयता का प्रमाण बहुत कुछ परम्पराभुक्त हो गया है। हाँ इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि गरीबों के पास ही हृदय होता है। लेकिन इस संकेत से कई और प्रश्न खड़े हो जाते हैं। निर्धनता की चक्की में पिसते हुए कवि-दार्शनिक भला कब तक इस प्रकार की साधना करते रहेंगे। उनके घर-परिवार के लोग तथा स्वयं कवि

और विचारक प्रशंसा की द्राक्षा में दब कर डुबकी लगाते रहेंगे ? 'यह स्वतंत्रता का युग' पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति में पली हुई नव-युवतियों की काम-मूलक स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर गहरा व्यंग्य है। 'मायोपिया' में विवाह न करने वाली उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों की आत्म-प्रवंचना का पर्दाफाश किया गया है। 'पर्दे के पीछे' में कांग्रेसी सेवकों पर काफी चुभता हुआ व्यंग्य है। एक सेठ के शब्दों में—'ये हैं कांग्रेस के लोग! मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थ-लोलुप। इनके भी वैसे ही ठाट हैं—मकान, कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, फिर मजा यह कि काम कुछ नहीं करते। व्यापार कोई नहीं करते...।'

रंगमंच की दृष्टि से भट्ट जी के नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। भाषा का सहज प्रवाह और संवाद की स्वाभाविकता इनमें सर्वत्र पाई जाती है। कुछ एकांकियों की घटनाओं और क्रिया-व्यापारों में सम्यक् योग नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए प्रभावान्वित त्रुटि रहित नहीं हो पाई है। उदाहरण के लिए 'पर्दे के पीछे' में कांग्रेस-कर्मियों का प्रसंग किरायेदार और इन्कमटैक्स-आफिसर के प्रसंग से प्रायः जुड़ नहीं पाया है। 'बाबू जी' में भोलानाथ और कांता का प्रसंग कथा-प्रवाह में कोई विशेष योग दान नहीं करता। पर इनके अधिकांश एकांकी वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से इनकी सजगता और जागरूकता के द्योतक हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क

अश्क उन एकांकीकारों में हैं जिन्होंने थोड़े ही दिनों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। प्रारम्भ में अश्क ने मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन को—डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में पंजाबी मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन को—अपने एकांकियों का वर्ण्य बनाया है किन्तु बाद में उन्होंने जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी अपने विषयों का चुनाव किया।

यों पारिवारिक जीवन ही उनका मुख्य क्षेत्र है—इस क्षेत्र में

उन्हें काफी सफलता मिली है। इस जिन्दगी को उलट-पुलट कर उन्होंने बारीकी से देखा है और उसकी असंगतियों पर जमकर प्रहार किया है। उदाहरण के लिए 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी' और और 'सूखी डाली' को ले सकते हैं। पहले दोनों नाटकों की रूपरेखा बहुत कुछ समान है। पहले में माँ-बाप की स्वार्थपरता और निर्दयता को मरणासन्न बच्चे की पृष्ठभूमि में बुरी तरह उघाड़ दिया गया है। ठीक इसी प्रकार मरणोन्मुखी पत्नी की असहायता पति और पत्नी की बहन की रंगरेलियो से और भी करुण हो उठती है। यद्यपि इन दोनों एकांकियों की विषय-वस्तु में कोई खास नवीनता नहीं दिखाई पड़ती तथापि पाठकों या सामाजिकों को अनुभूतिमय बनाने में लेखक को सफलता अवश्य मिली है। 'सूखी डाली' आज की सम्मिलित कौटुम्बिक प्रणाली पर चुभता हुआ व्यंग्य है। पर इसका फलक प्रथम दो नाटकों की अपेक्षा बड़ा है। इसमें पात्रों को मनोवैज्ञानिक स्थितियों को खूब सूक्ष्मता से परखा गया है। इसमें संनिहित सांकेतिकता ने समस्त वातावरण को गंभीर बना दिया है। इसे मैं अश्क की अत्यधिक प्रौढ़ एकांकी मानता हूँ।

इस मजे हुए क्षेत्र के बाहर अश्क जी प्रायः लड़खड़ा गए हैं। वहाँ पर अपने को सँभालने के लिए उन्होंने किसी न किसी मोटे सिद्धान्त-सूत्र को पकड़ा है। इसके प्रमाण में 'वेश्या' और 'कामदा' को पेश किया जा सकता है। 'वेश्या' में भी हृदय होता है, वह भी त्याग करना जानती है—यही चित्रित किया गया है। पर सारा का सारा चित्रण कोरी भावुकता (सेंटीमेंटैलिटी) पर आधारित होने के कारण अपेक्षित गंभीरता से अस्पृष्ट रह गया है। 'कामदा' में रोमैंटिक प्रेम-विवाह को जिस ढंग से रखा गया है वह बीते हुए दिनों की बात है। इसका समाधान तो और भी स्थूल प्रतीत होता है।

इन एकांकियों के अतिरिक्त अश्क ने कुछ प्रहसन भी लिखे हैं, जैसे 'जोंक', 'आपसी समझौता' और 'विवाह के दिन।' इनके प्रहसन

विशुद्ध विनोद हैं, इनमें किसी विशेष दृष्टिकोण को ढूँढ़ना लेखक के साथ अत्याचार करना है। पर 'विवाह के दिन' को अश्क ने 'सामाजिक व्यंग्य' कहा है ! इसमें 'सामाजिक' क्या है और व्यंग्य क्या है ? परसराम की समस्या समाज की समस्या नहीं है, वह एक मूर्ख की समस्या भले ही हो सकती है। परसराम संस्कृत नाटकों के विदूषकों के समकक्ष रखा जा सकता है—न उनके ऊपर और न नीचे। व्यंग्य की दृष्टि से तो इसमें और भी कुछ नहीं है। यह न तो सामाजिक है और न व्यंग्य। इसे भी प्रहसन ही कहना चाहिए।

कथोपकथनों की स्पष्टता, सादगी और अर्थपूर्णता उनकी निजी विशेषताएँ हैं। वाक्य कहीं पर बोझीले और कथा की गति को अवरुद्ध करने वाले नहीं हैं। कथोपकथन की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—एक तो यह कि वह चरित्र को निखारता चले, दूसरी यह कि वह कथा को गतिशील बनाता चले। अश्क के कथोपकथन इन विशेषताओं से समन्वित हैं। जहाँ कहीं उनकी कथा-वस्तु की गत्वरता में विक्षेप आया है वहाँ पर भी कथोपकथन की सफाई में कमी नहीं आयी है। यह कमी बहुत कुछ विश्लेषणात्मकता के आतिशय्य के कारण आती है, जो अश्क में प्रायः नहीं है।

अभिनेयता के प्रति अश्क पहले ही से काफी सजग रहे हैं। पर लंबे रंग-निर्देश अभिनेयता में कदाचित ही कोई योग देते हों। उल्टे ये मन को उबा देने में सहायता जरूर पहुँचाते हैं। रंगमंच की सादगी और व्यावहारिक निपुणता के कारण रंगमंच पर उनके एकांकी काफी सफल रहे हैं—विशेष रूप से एमेचर रंगमंच पर।

अन्य एकांकीकार

उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी, गणेश प्रसाद द्विवेदी आदि ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। भगवती चरण वर्मा ने संख्या की दृष्टि से कम ही नाटक लिखे हैं पर उनमें एक कुशल शिल्पी की विशेषताएँ मिलती हैं। प्रसिद्ध नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी

ने मध्यकालीन शौर्य के आधार पर कुछ अच्छे एकांकियों की रचना की है। रेडियो विभाग ने लक्ष्मीनारायण मिश्र को भी इस क्षेत्र में उतरने को मजबूर किया और प्रसिद्ध उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने भी इस क्षेत्र में कलम की आजमाइश की है।

नए रंगमंच और प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके व्यंग्य और विचार गहरे हैं। विष्णु प्रभाकर ने भी कुछ अच्छे एकांकी नाटकों की सृष्टि की है। विश्वंभर मानव, भारती आदि ने भी एकांकी लिखे हैं पर इधर नई पौद के लोगों का उतना आकर्षण नहीं दिखाई पड़ रहा है।

एकांकी का रचना-विधान

एकांकी अभी अल्पवयस्क रचना-प्रकार है, पर थोड़े ही दिनों में इसकी प्रौढ़ता के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। इसकी स्वाभाविक मधुरिमा, आकर्षक व्यक्तित्व और अनलंकृत किंतु अभिनव साज-सज्जा अत्यंत मोहक सिद्ध हुई है। किसी भारी भरकम आयोजन के बिना ही अति सरल ढंग से अभिनीत होने के कारण इसकी लोकप्रियता दिनोदिन बढ़ती जा रही है।

एकांकी और कहानी

ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि एकांकी नाटक की ही जाति का है पर दोनों में पर्याप्त विभिन्नता है। आधुनिक नाटक का अभिनय जहाँ एक घंटे से ढाई घंटे के भीतर हो जाता है, वहाँ एकांकी का अभिनय करने के लिए दस मिनट से एक घंटे का समय पर्याप्त है। एक प्रकार से नाटक और एकांकी का वही संबंध है जो उपन्यास और कहानी का। उपन्यास और नाटक यदि जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करते हैं तो कहानी और एकांकी किसी जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति। कहानी की भाँति एकांकी में भी एक केन्द्रीय भावना और एकोन्मुखता होती है। उपन्यास और नाटक में जहाँ अनेक

प्रकार के क्रिया-व्यापारों तथा प्रवृत्तियों का सामूहिक प्रभाव पड़ता है वहाँ कहानी और एकांकी में एक ही केन्द्रीय भाव का एक प्रभाव (सिंगिल इफेक्ट) । इसके परिणाम स्वरूप कहानी और एकांकी की प्रभाव-जन्य संवेदनशीलता अधिक तीखी और जी कचोट लेने वाली होती है ।

किसी अन्य रचना प्रकार की अपेक्षा एकांकी कहानी के अधिक समीप है । दोनों एक दूसरे के निकट होते हुए भी दूर हैं । दृश्य होने के कारण एकांकी में क्रिया-व्यापार पर विशेष ध्यान देना पड़ता है जब कि कहानी के लिए यह अनिवार्य नहीं है । एकांकी का सारा व्यापार संवादों के माध्यम से व्यक्त होता है । उसमें विवरण-वर्णन और विश्लेषण के लिए कोई अवकाश नहीं रहता ।

तत्त्व

सामान्यतः एकांकी में भी वे ही छः तत्त्व माने जाते हैं जो नाटक और कथा-साहित्य में । नाटकों की अपेक्षा एकांकी का लघु-काय ढाँचा आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथावस्तुओं का निर्वाह एक साथ नहीं कर सकता । इसके लिए जीवन की कोई मार्मिक घटना, कोई असाधारण पहलू, कोई सघन क्षण, कोई विशेष परिस्थिति गृहीत होती है ।

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि इसमें चरित्र-चित्रण का पूरा अवकाश न रहे । चरित्र के किसी एक विशेष पक्ष, उसकी विशेष मानसिक स्थिति अथवा उसकी विशेष परिस्थिति का चित्रण ही उसका मुख्य लक्ष्य होता है । एकांकियों के संवाद नाटकों की अपेक्षा संक्षिप्त और मर्मस्पर्शी होने चाहिए । ये संवाद दुहरे कार्य करते हैं; एक ओर तो ये पात्रों का चरित्र उद्घाटित करते हैं दूसरी ओर कथा को गतिशील बनाते हैं । किसी भी पात्र के कथन में इन विशेषताओं का होना अत्यंत आवश्यक है । पात्रों की संवाद-योजना, वेश-विन्यास, रीति-नीति-अंकन देशकाल के अनुसार होना चाहिए ।

एकांकियों में उतने ही समय या काल का समावेश करना चाहिए जिससे उसकी स्वाभाविकता बनी रहे। दो घटनाओं के बीच काल का कम से कम अन्तर रखना आवश्यक है।

एकांकियों को सोद्देश्य होना ही चाहिए। केवल रस-निष्पत्ति की दृष्टि से नाटक लिखने का जमाना लद गया, केवल मनोरंजन की दृष्टि से कुछ कहने के दिन बीत गए। आज की सामाजिक असंगतियों, जर्जर-रूढ़ियों और घिसी-पिटी परंपराओं पर जमकर प्रहार करना आज के एकांकी का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रहार में जितनी शक्ति होगी अथवा जितना तीखापन होगा एकांकी उतना ही जी कचोटने वाला होगा। एकांकी की भाषा में एक तनाव, प्रौढ़ता और रागात्मक तार्किकता होनी चाहिए जिससे वह लेखक के भावों को अपेक्षित ढंग से प्रेषणीय बना सके।

कार्यावस्था

कार्यावस्था की दृष्टि से एकांकी के तीन भाग होते हैं—प्रारम्भ, विकास और चरमोत्कर्ष। कहानी के आरंभ की तरह एकांकी का प्रारंभ भी अधिक से अधिक आकर्षक होना चाहिए। पर इसके आरम्भ के सम्बन्ध में नियम नहीं बनाए जा सकते। एक एकांकी का प्रारम्भ देखिए—

बड़ी बहू—(इंदु के कंधों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए) आखिर कुछ कहो भी। क्या कह दिया छोटी बहू ने ?

इंदु—(चुप)

बड़ी बहू—क्या कह दिया उसने जो इतनी भिफरी हुई हो।

इंदु—(क्रोध से) और क्या ईंट मारती ?

—अश्क, सूखी डाली

आरम्भ के इस कथोपकथन में स्वयं इतनी नाटकीयता है कि सामाजिकों का ध्यान उधर तुरत आकृष्ट हो जाता है। इंदु के कंधों पर बड़ी बहू के हाथ रखने का कार्य सपाट क्रिया है, पर वास्तविक

क्रिया-व्यापार तो उसके कथोपकथन में निहित है। क्षणिक चुप्पी के बाद इंदु का सहसा क्रुद्ध हो जाना जो विरोधात्मक क्रिया-व्यापार उत्पन्न करता है उससे दर्शकों की साकांक्षता बढ़ जाती है। प्रारम्भ में ही इस साकांक्षता को पकड़ लेना लेखक की सफलता का द्योतक है। 'और क्या ईंट मारती ?' में ईंट ही मारी गई है। प्रारम्भ में ही एकांकी की मूल समस्या का परिचय करा दिया जाता है, जो मुख्यतः संघर्षात्मक होती है।

एकांकी की दूसरी अवस्था उसके विकास की है। प्रारम्भ में उठाए गए संघर्ष को इसमें या तो व्याप्ति मिलती है या फिर उसके समाधान की ओर बढ़ा जाता है। 'सूखी डाली' में ऊपर-ऊपर से ऐसा ही किया गया है—इसमें पहले दृश्य में उठाए गए संघर्ष का प्रकाश्य समाधान प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु इस समाधान के पीछे भी गहरी व्यंजना छिपी हुई है जो अंत में उद्‌घाटित होती है।

एकांकी की परिसमाप्ति और चरमोत्कर्ष को एक ही साथ घटित होना चाहिए और यहीं पर साकांक्षता भी पूरी ऊँचाई पर पहुँच जाती है। यदि कथा इसके आगे बढ़ी तो उसमें प्रभावहीनता आ जायगी और एकांकी का अनुबंध ढीला पड़ जायगा।

पर एकांकी का उपर्युक्त अवस्थाओं से गुजरना और उसमें चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) का होना अनिवार्य नहीं है। अन्तर्द्वंद्व प्रधान एकांकियों में दूसरी पद्धति अपनाई जाती है। इसमें अन्तःसंघर्ष के तह पर तह खुलते हैं और यह बहुत कुछ मनोविश्लेषणात्मक होता है। उदाहरण के लिए रामकुमार वर्मा का 'औरंगजेब की आखिरी रात' एकांकी देखा जा सकता।

अन्वितित्रयी

आज नाटकों के लिए अन्विति-त्रयी की अनिवार्यता नहीं मानी जाती। पर क्या यही एकांकी के लिए भी लागू है ? सेठ गोविन्ददास ने उपक्रम और उपसंहार जोड़कर काल की अन्विति का प्रश्न हल

कर दिया है किन्तु समय और क्रिया-व्यापार की अन्विति को वे अनिवार्य मानते हैं। एकांकी नाटकों में जो एकाग्रता और एकतानता दिखाई पड़ती है उनको देखते हुए अन्विति-त्रयी बहुत आवश्यक प्रतीत होती है। समय और स्थान के बिखर जाने से प्रभावान्वित का बिखर जाना आवश्यक है।

एकांकी का वर्गीकरण

एकांकी नाटकों के तीन प्रमुख भेद किए जा सकते हैं—पाठ्य एकांकी, दृश्य एकांकी और ध्वनि एकांकी। फिर प्रत्येक को दो-दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। पाठ्य एकांकी के दो भेद हैं—परिसंवाद और पाठ्य एकांकी। दृश्य एकांकी को दो वर्गों में बाँट सकते हैं—गीतिनाट्य और दृश्य एकांकी। इस तरह ध्वनि एकांकी भी दो तरह का होता है—ध्वनि रूपक और ध्वनि नाटक। नीचे की तालिका से यह वर्गीकरण स्पष्ट हो जायगा—

परिशिष्ट २
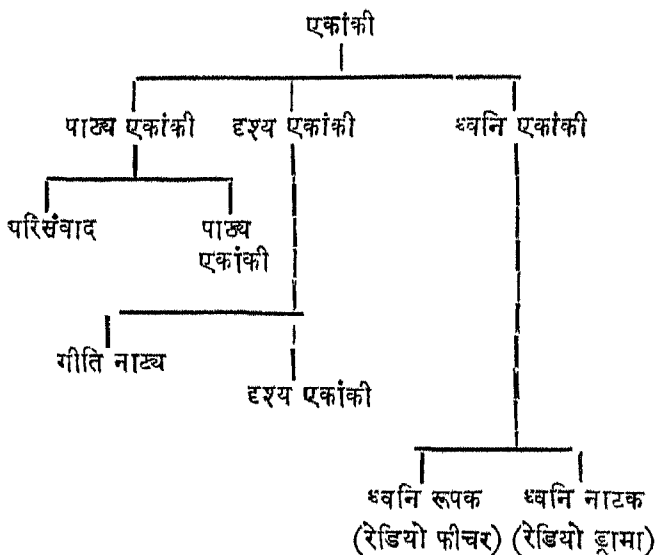
रेडियो नाटक (ध्वनि एकांकी)

प्रारंभ में जिस प्रकार कहानियों को उपन्यासों का लघुरूप कहा जाता था, एकांकी को नाटकों का संक्षिप्त रूप माना जाता था, उसी प्रकार रेडियो नाटक को रंग-एकांकी का भाई-बंधु स्वीकृत किया जाता था। कालान्तर में जब कहानियों और एकांकियों ने शैलीगत विकास कर लिया तो लोगों को अपनी धारणाएँ बदलनी पड़ी। वे यह कहते हुए देखे गए कि कहानी और उपन्यास की अलग-अलग जातियाँ हैं, नाटक और एकांकी दो भिन्न-भिन्न रचना-प्रकार हैं। आज रेडियो-नाटक के विकसित शिल्प ने यह सिद्ध कर दिया कि रंग-एकांकी और रेडियो-नाटक दो असमान विधाएँ हैं, सादृश्य के स्थान पर उनमें असादृश्य अधिक है।

रेडियो नाटक और एकांकी

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य को दो कोटियों में विभाजित किया—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य को उन्होंने रूपक की अभिधा दी। पर रेडियो नाट्य शिल्प के कारण रूपक या नाटक को भी दो श्रेणियों में बाँटना पड़ेगा—दृश्य नाटक और श्रव्य नाटक। रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों के सभी प्रकार पिछली श्रेणी में रखे जायँगे। एकांकी और रेडियो नाटक की मुख्य विभाजक रेखा यही है कि पहला दृश्य है और दूसरा श्रव्य। फिर भी रेडियो नाटक श्रव्य होकर भी नाटक ही है। हाँ, जहाँ एकांकी का माध्यम रंगमंच है वहाँ रेडियो-नाटक का माध्यम ध्वनि।

इस माध्यम की भिन्नता के कारण दोनों की अपनी अलग-अलग

सुविधाएँ-असुविधाएँ हैं। रंगमंच पर उपस्थित अभिनेताओं के रूप, वाणी, मुद्रा, भंगिमाएँ आदि के साक्षात्कार से जो सामूहिक प्रभाव निष्पन्न होता है केवल ध्वनि से माध्यम से उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रेडियो-नाटक एकांकी से हीन नाट्य विधान है। रेडियो-नाटकों को रंगमंचीय सुविधा तो नहीं है पर कई अर्थों में एकांकी नाटकों की अपेक्षा वह अपने शिल्प के कारण अनेक और सुविधाओं को अपनी गहनता में समेट लेता है।

विषय की दृष्टि से जितने व्यापक विषय को रेडियो नाटकों में प्रस्तुत किया जा सकता है उतने व्यापक विषय को एकांकियों में नहीं उपस्थित किया जा सकता है। एकांकियों के बंधन रेडियो नाटकों को स्वीकार नहीं हैं। संकलन-त्रय के लिए रेडियो नाटकों में कोई स्थान नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि एकांकियों के कतिपय बाधक तत्व इसके लिए साधक सिद्ध हुए है। आलोचकों ने नाटकों और एकांकियों से बेचारे 'स्वगत' को लगभग बहिष्कृत कर दिया है। पर रेडियो नाटकों में जाकर जैसे इसे अपना उचित स्थान मिल गया। स्वप्न, विक्षेपावस्था आदि को नाटकों-एकांकियों में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता लेकिन रेडियो नाटकों में इन्हें अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। वातावरण-निर्माण में तो रेडियो-नाटक ने एकांकियों को बुरी तरह पिछाड़ दिया है। प्लेटफार्म की भीड़-भाड़, फेरी वालों के शोरगुल, कुली के पुकारने की आवाज, यात्रियों की चीख-पुकार, कनाडियन इंजिनों के भोंपू आदि को रेडियो-नाटकों में बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। एकांकियों में दूसरे स्थान की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को, जो नाटकीय कथानक से अच्छी तरह संबद्ध हैं, केवल सूचित किया जा सकता है। पर रेडियो नाटकों में उन्हें उपस्थित करने में कोई कठिनाई नहीं हैं। इस तरह रेडियो-नाटकों ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अर्थोपक्षेपकों-विष्कंभक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक—के झंझट से भी अपने को मुक्त कर लिया है।

शिल्प-वैशिष्टय

रेडियो-नाट्य-शिल्प को ध्वनि-शिल्प भी कहा जा सकता है। संपूर्ण नाटक का नियंत्रण तीन प्रकार की ध्वनियों से होता है—शब्द-ध्वनि वाद्य-ध्वनि और प्रभाव-ध्वनि (sound-effect)। शब्द-ध्वनि के माध्यम से संवादों को श्रोता तक पहुँचाया जाता है, वाद्य-ध्वनि से दृश्य-परिवर्तन के अतिरिक्त अपूर्ण कथा को पूर्ण और पात्रों के आगमन और निष्क्रमण को संकेतित किया जाता है और प्रभाव-ध्वनि का मुख्य प्रयोजन वातावरण का निर्माण करना है।

शब्द-ध्वनि रेडियो-नाट्य का प्राणतत्त्व है, इसलिए नाटककार को शब्द-ध्वनि की पूरी परख होनी चाहिए। उसे इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि श्रोतव्य अर्थपूर्ण होने के साथ-साथ श्रुति-सुखद, सहज-ग्राह्य और प्रभावोत्पादक हो। सामान्यतः संवाद के वाक्य लंबे न हों तो अच्छा है क्योंकि उसे सँभालने में प्रसारक के श्वासावरोध की आशंका है और इससे ध्वनि की प्रभावोत्पादकता के बिखर जाने का भी भय बना रहता है।

संवादों का स्वर सामान्य (Normal tone) होना चाहिए। नाटकों में रंगमंच पर अभिनेता से संमुख दर्शकों का समुदाय होता है। इसलिए उसके स्वर में कुछ तेजी भी दिखाई पड़ सकती है, क्योंकि बात तो करता है वह अपने साथी अभिनेता से पर उसका अभिप्राय होता है उसे दर्शकों तक पहुँचाना। रेडियो नाटक के कलाकारों के सामने समूह नहीं व्यक्ति होता है। फिर माइक के अत्यधिक स्वर-ग्राह्य (Sensetive) होने के कारण अपनी फुसफुसाहट तक को श्रोताओं तक पहुँचा सकने में वह समर्थ है।

संवादों की ध्वनियों द्वारा चरित्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य अंकित किया जाता है। कुशल नाटककार ध्वनि में प्रतीकत्व का समा-
करता है, जिससे चरित्रगत विशेषताओं को स्पष्ट करने
सुविधा मिलती है। पात्रों का स्वर-वैभिन्न्य रेडियो नाटक

के लिए बहुत आवश्यक है अन्यथा उसमें एकरागता आ जायेगी। नाटककार को भिन्न-भिन्न चरित्रों की भाषा-शैली में इस तरह का पार्थक्य रखना चाहिए कि प्रत्येक पात्र की टोन, लय, ध्वनि दूसरे से थोड़ी-बहुत भिन्न हो जाय।

वाद्य-ध्वनि से तात्पर्य है वाद्य-संगीत का। दृश्य-परिवर्तन के समय संक्षिप्त वाद्य-ध्वनि प्रस्तुत की जाती है। प्रभाव-ध्वनि का मुख्य प्रयोजन वातावरण निर्माण होता है। पीछे इसका उल्लेख किया जा चुका है। नाटककार को इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि कहीं वाद्य-ध्वनि और प्रभाव-ध्वनि स्वयं साध्य न हो जायँ।

प्रकार

शिल्प की दृष्टि से रेडियो नाटक के प्रकार हैं—नाटक, रूपक, फँटेसी, रूपांतर मोनोलॉग, संगीत-रूपक और झलकियाँ।

रेडियो-नाटक रंगमंचीय नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्मतर तत्त्वों और जीवन-मर्मों को अपना वर्ण्य विषय बनाता है। जिस प्रकार एकांकी के रंगमंचीय उपकरण एक विशेष जीवन-मर्म को व्यंजित करने के लिए ही गृहीत होते हैं उसी प्रकार रेडियो के समस्त उपकरण-ध्वनि, संगीत आदि—भी सूक्ष्मतर जीवन-मर्मों को व्यंजित करने के साधन हैं। नाटक (रेडियो-नाटक) अन्य प्रकारों की अपेक्षा एकांकी के निकट है। रेडियो रूपक रेडियो फीचर का अनुवाद है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। नाटक की भाँति इसका कोई रूप नहीं स्थिर किया जा सकता। विषयानुसार यह अपना रूप बदलता रहता है। इसके माध्यम से सूचना, प्रचार आदि को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। फैन्टेसी एक अतिशय कल्पना प्रधान नाटक ही है। मोनो-लॉग या एक-पात्री-नाटक में आद्यन्त एक ऐसा पात्र बोलता है जो अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों में उलझा हुआ हो। झलकियाँ में भिन्न-भिन्न लघु-लघु विनोदात्मक दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इनका प्रयोजन श्रोताओं का मनोरंजन करना है। संगीत-रूपक में रूपक

संगीत और लयात्मक गीति के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। रेडियो रूपान्तर में कहानी, रङ्ग-एकांकी, उपन्यास आदि को इस तरह रूपांतरित किया जाता है कि उन्हें रेडियो के माध्यम से नाटकीय ढङ्ग से प्रसारित किया जा सके।

हिन्दी के रेडियो नाटक

हिन्दी रेडियो नाटक अपने विकास की दो अवस्थाएँ पार कर चुका है। पहली अवस्था में तो पूरे रंगमंचीय नाटक रंगमंच की सारी स्थूलताओं के साथ प्रसारित होते थे। १६३६ ई० में पहला रेडियो नाटक आल इंडिया रेडियो से प्रसारित हुआ जिसमें रंग-संकेत, दृश्यान्तर, अन्तराल सबके सब रंगमंचीय ढंग के थे। रंग-एकांकी के आविर्भाव के साथ ही रेडियो-नाटकों में भी नया मोड़ आया और ये एकांकी रेडियो पर प्रसारित होने लगे। माइक के माध्यम से रंग-एकांकियों को प्रसारित करने में जब कठिनाई का अनुभव हुआ तो ऐसे एकांकियों की रचना की जाने लगी जो रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत भी हो सके और रेडियो से प्रसारित भी। रामकुमार वर्मा और अश्क ने इस तरह के कई नाटक लिखे। यह रेडियो नाटक के विकास की दूसरी अवस्था है। आज रेडियो नाटक रंग-नाटक से बिल्कुल पृथक हो गया है। आज के रेडियो-नाटक की टेकनीक को देखते हुए यदि द्वितीय अवस्था के नाटकों की समीक्षा की जाय तो वे सामान्यतः असफल सिद्ध होंगे।

आज कुछ ऐसे लेखक भी दिखाई देने लगे हैं जो केवल रेडियो के लिए ही नाटक लिखने लगे हैं। विष्णु प्रभाकर ने अपनी पुस्तक 'प्रकाश और परछाईं' में लिखा है—'तो हमने तीन बातें कहीं। एक यह कि रेडियो और रंगमंच के लिए अलग-अलग लिखे......' इस पुस्तक में सबके सब रेडियो-नाटक संगृहीत हैं। नए माध्यम की बारीकी को समझने का प्रयास विष्णु ने बराबर किया है। परिणाम स्वरूप उनके रेडियो-नाटकों में बराबर निखार आता गया है। रेडियो

से संबद्ध होने के कारण भी उन्हें इस नए माध्यम की संभावनाओं का निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला है। उक्त संग्रह में 'लिपिस्टिक की मुस्कान' और 'युग-संधि' में ध्वनि-परिवर्तन और संवेगात्मकता का पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए ये नाटक काफी सफल हुए हैं। इस संग्रह का पहला नाटक 'सीमा रेखा' राजनीतिक वाद-विवाद का रूप धारण कर लेने के कारण भावात्मकता का स्पर्श करने में बहुत कुछ असमर्थ हो गया है। विष्णु प्रभाकर के अतिरिक्त हरिश्चन्द्र खन्ना, सिद्धनाथ कुमार, रेवती शरण शर्मा आदि ने भी रेडियो-नाटक के टेकनीक की दृष्टि से अनेक अच्छे नाटक लिखे हैं।

रेडियो में न रहकर भी अश्क ने श्रव्य-माध्यम से कुछ ऐसे नाटक भी लिखे हैं जो रेडियो पर सफलता पूर्वक प्रसारित किए जा चुके हैं। 'छठा बेटा', 'काले साहब' 'पर्दा उठाओ' और पर्दा गिराओ' ऐसे ही नाटक हैं। अश्क की सफलता का सार्वाधिक श्रेय इनके तीखे व्यंग्यों और चुस्त संवादों को है। अमृतलाल नागर ने इस दिशा में सीमित पर स्तुत्य प्रयास किया है। उनका 'बाँकेलाल' अनेक बार प्रसारित हो चुका है। अमृतलाल नागर अपनी शैली में बेजोड़ हैं। उनका व्यंग्य इतना तीखा और मर्मस्पर्शी होता है कि समाज के विगलित अंगों पर कड़ी चोट करता है। रेडियो-नाटकों के क्षेत्र में उनकी सफलता असंदिग्ध है।

रेडियो पर प्रायः वे ही गीति-नाट्य प्रसारित किए गए हैं जिनका उल्लेख गीति-नाट्यों के प्रसंग में एक अलग अध्याय में किया जा चुका है। उनमें से अधिकांश नाटक अनाकर्षक ही रहे हैं। किसी में काव्यत्व की अतिशयता है तो किसी में उसकी नितांत कमी। नाटकत्व तो बहुत कम नाटकों में है। गीति-नाट्यों के लिए रेडियो-मंच में अनेक संभावनाएँ निहित हैं। गीतिनाट्यों में अन्तर्निहित अन्तर्द्वन्द्वों को—सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को—ध्वनि, ध्वनि-प्रभाव वाद्य-संगीत आदि के सहारे बड़ी ही कुशलता से प्रसारित किया जा सकता है।

अतिकल्पनाओं (फैंटेसीज) के लिए भी रेडियो का माइक अत्यंत उपयुक्त माध्यम है। पर गीति-नाट्यों की भाँति अतिकल्पनाएँ भी बहुत कम लिखी गई हैं। इसके लिए तो रेडियो ही एकमात्र शरण भूमि है क्योंकि रंगमंच से इसका कोई मेल नहीं बैठता। इस प्रकार के नाटक लिखने वालों में गिरिजाकुमार माथुर, सिद्धनाथ कुमार और रामचन्द्र तिवारी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मोनोलाग या एकपात्री नाटक तो संख्या में और भी कम लिखे गए हैं। मोनोलाग में एक से अधिक भावनाओं का द्वन्द्व चित्रित किया जाता है। इन भावनाओं में प्रायः परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के नाट्य लेखकों में विष्णु प्रभाकर और कर्तार सिंह दुग्गल का नाम लिया जा सकता है।

पुराने लेखकों में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर आदि ने भी रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों की रचना की है।

सच पूछिए तो रेडियो-नाटक अभी प्रारंभिक अवस्था में है। इसकी अपेक्षित प्रगति में कमी दिखाई पड़ रही है उसके तीन प्रमुख कारण हैं। एक तो रेडियो की दृष्टि से नाटक लिखने वालों की बहुत कमी है, दूसरा यह कि रेडियो-नाट्य की टेकनीक से लोग कम परिचित हो सके हैं, तीसरा यह कि आल इंडिया रेडियो ने बी० बी० सी० की तरह अभी तक इसके लिए स्वतंत्र विभाग नहीं खोल रखा है।

फिर भी रेडियो माध्यम की संभावनाओं को देखते हुए हम निराश नहीं हैं। धीरे-धीरे इस दिशा में हम अग्रसर हो रहे हैं, इस नए माध्यम की शक्ति पहचान रहे हैं, इसके टेकनीक का अभ्यास कर रहे हैं, विदेशी स्टेशनों से बहुत कुछ सीख रहे हैं। ऐसी स्थिति में वह दिन दूर नहीं है जब हमारे रेडियो स्टेशन अनेक प्रकार के श्रेष्ठ रेडियो-नाटकों से हमारा मनोरंजन करने में समर्थ हो सकेंगे।

परिशिष्ट ३

रंगमंच

हिन्दी रंगमंच का जो भी इतिहास है वह पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया का इतिहास है। भारतेंदु तथा उनके सहयोगी रङ्गमंच के कुरुचिपूर्ण वातावरण से अच्छी तरह परिचित थे। अपने 'नाटक' में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—'काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रख कर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉ० थिबो, बाबू प्रमदा दास मित्र यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।' सन् १६०२ में 'हिंदी प्रदीप' के संपादकीय में पारसी थियेटर की कड़ी आलोचना की गई। 'राम वन गमन' (१६१०) की भूमिका में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा गया है—'पारसी लोग जो हिंदू संबंधी नाटक खेलते है, उसकी भाषा प्रायः उर्दू होती है व भाव भी प्रायः हिन्दुओं के विरुद्ध ही होता है।'

भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय में ही कानपुर में कुछ नाट्य मंडलियाँ स्थापित हुईं पर वे अकाल में ही काल के गाल में समा गईं। सन् १८६८ ई० में प्रयाग में 'रामलीला नाटक मंडली' स्थापित की गई। १६०८ ई० में माधव शुक्ल ने इसका पुनरुद्धार किया। इस मंडली ने 'राणा प्रताप' और माधव शुक्ल का 'महा भारत' आदि नाटकों को सफलता पूर्वक रंगमंच पर उतारा।

इस संबंध में काशी की नाट्य मंडलियों का विशेष महत्व है,

क्योंकि ये अन्य मंडलियों की अपेक्षा अधिक काल तक जीवित रहीं। सन् १९०८ ई० में स्थानीय हिन्दू स्कूल में राधा कृष्ण दास का 'राणा प्रताप' खेला गया। उस नाटक को देखने के लिए काशी के प्रसिद्ध नगर सेठ बीसूजी के पौत्र बाबू कृष्णदास साह भी गए हुए थे। बा० कृष्णदास उस नाटक से इतने अधिक प्रभावित हुए कि दूसरे दिन हरिदास माणिक और धर्मदत्त शास्त्री को बुला कर राणा प्रताप के अभिनय के संबंध में उनसे परामर्श किया। उनका विचार था कि उसका अभिनय कहीं शहर में किया जाय। अर्थाभाव के कारण उन्होंने इसके अभिनय में असमर्थता व्यक्त की। फिर इस संबंध में काशी के श्रीमन्तों की एक सभा बुलाई गई और एक नाट्य मंडली की स्थापना की गई। इसका नाम रखा गया 'नागरी नाट्य कला प्रवर्तक मंडली।' इसके नाम पर 'नागरी प्रचारिणी सभा' के नाम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'नाट्यकला प्रवर्तक' का कदाचित अभिप्राय यह था कि पारसी नाट्य कला से दूषित अभिनेयता का प्रवर्तन। बाद में पारस्परिक मतभेद के कारण यह मंडली दो मंडलियों में विभाजित हो गई—नागरी नाटक मंडली और भारतेंदु नाटक मंडली। नागरी नाटक मंडली ने पं० सुधाकर द्विवेदी की देख रेख में कार्य करना आरम्भ किया। कृष्ण गढ़ नरेश की सहायता से इस मंडली ने कबीर चौरा में एक रङ्गमंच का निर्माण भी किया है, जो अभी अधूरा है। कभी-कभी जोश में आकर यह मंडली आज भी कोई न कोई नाटक खेलती रहती है पर है यह मुमूर्ष प्राय ही।

अब आइए इस बात का लेखा जोखा लगा लें कि इन अव्यवसायी नाट्य मंडलियों ने कितना पारसी रंगमंच को छोड़ा और कितना नए मंच के निर्माण में अपना जोड़ा। पारसी थियेटर की अतिरंजनाओं को—भड़कीली साज-सज्जा, बात-बात में नृत्य-गान, हाव-भाव आदि को इन अव्यवसायी मंडलियों ने आंशिक रूप में

छोड़ दिया। एक नई सांस्कृतिक रुचि के निर्माण के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था। पारसी रंगमंच की विरासत को सहसा छोड़ देना न तो इन मंडलियों के हित में होता और न जनता के ही हित में। जनता पारसी रंगमंच से इतना अधिक अभ्यस्त हो चुकी थी कि उसकी चित्तवृत्ति को दूसरी दिशा में क्रमशः ही मोड़ा जा सकता था। इन अव्यवसायी मंडलियों के पास इतना धन भी न था कि अपने पैसे से बराबर नाटक खेलती रहती। नाटक खेलने में जो व्यय होता था उसका कुछ अंश उन्हें दर्शकों से भी प्राप्त करना होता था। ऐसी स्थिति में पारसी थिएटर कंपनियों की नाट्य परंपरा से सर्वथा अपना संबंध-विच्छेद कर लेना इनके लिए संभव न था।

पारसी थियेटर के बाह्य उपकरणों को अंशों में ग्रहण करते हुए भी इन नाटकों की आत्मा उससे भिन्न थी। विषय-वस्तु के चुनाव तथा उसके प्रतिपादन के ढंग में अव्यवसायी मंडलियों ने जो दृष्टिकोण अपनाया वह गंभीर और स्वस्थ था। उर्दू की शोखी और बाजारू गानों के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं था। इनका हास्य भी मर्यादित और संयमपूर्ण था। इन मंडलियों द्वारा जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह परिष्कृत रुचि का निर्माण।

इन अव्यावसायिक मंडलियों के समाप्तप्राय हो जाने पर स्कूल और कालेज के रंगमंचों पर नाटक खेले जाने लगे। पर डेढ़ दिन चलने वाले इन रंगमंचों से कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता था। फिर भी हिंदी-रंगमंच को जिन्दा बनाए रखने का श्रेय इनको दिया जा सकता है। स्कूल-कालेज के वार्षिकोत्सवों के अवसर पर खेले जाने वाले नाटकों में मंचीय प्रौढ़ता नहीं आ पाई। इन नाटकों के आयोजकों को रंग-शिल्प के अधुनातन उपकरणों का ठीक ठीक पता नहीं रहता और न तो वे इस दिशा में प्रयास ही करते हैं। ध्वनि-प्रभाव, पार्श्व-संगीत, प्रकाश-परिवर्तन, दृश्य-बंध आदि की योजना

चलते ढंग से कर दी जाती है। इसके फलस्वरूप नाटकों में अपेक्षित प्रभावान्विति नहीं आ पाती है।

हिन्दी रंगमंच की चर्चा तब तक अधूरी समझी जायगी जब तक 'इप्टा' और 'पृथ्वी-थियेटर' की देन का आकलन न कर लिया जाय। इप्टा अव्यवसायी संस्था है। इसके निःस्वार्थ कर्मी सदस्यों ने खुले थियेटर (ओपेन एअर थियेटर) का बड़ा ही सफल प्रयोग किया है। इस रंगमंच पर खेले गए नाटकों को काफी लोकप्रियता भी मिली है। किंतु अपने सीमित साधनों के फलस्वरूप इसका अपेक्षित प्रसार-प्रचार न हो सका।

प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थियेटर' के माध्यम से हिन्दी को एक रंगमंच देने का प्रयास किया है। यद्यपि एक प्रकार से यह व्यावसायिक संस्था है तथापि पृथ्वीराज को इसके लिए कम त्याग नहीं करना पड़ रहा है। घाटा सहकर भी अपनी पक्की धुन और मिशनरी लगन के कारण वे अपने कार्य से विरत नहीं हुए हैं। उनका रंगमंच चलता-फिरता रंगमंच है। देश के विभिन्न भागों का दौरा करके उन्होंने अपने नाटकों का प्रदर्शन किया है। उन्होंने केवल चार नाटकों को—पठान, दीवार, गद्दार और कलाकार को रंगमंच पर उतारा है। देश भर में लोगों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। सवाक् चित्रपटों की अपेक्षा इन नाटकों में जो स्वाभाविकता, सरलता और अयान्त्रिकता है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। अपने अभिनय से पृथ्वीराज ने उन्हें और भी चमका दिया है। पृथ्वीराज की वह कला जो चित्रपटों की सीमाओं के कारण बहुत कुछ संकुचित हो गई थी थियेटर के रंगमंचों पर अपनी पूरी उर्जस्विता में प्रकट हुई है। 'पठान' में एक ही दृश्य-बंध (सेटिंग) है। इसी पर पूरा नाटक अभिनीत होता है। इस दृश्यबंध पर गढ़ी का अहाता है, इसमें सामने की ओर एक बुर्ज है। इस बुर्ज पर चढ़कर शत्रुपक्ष की गतिविधियों का निरीक्षण किया जाता है। दाईं और बाईं ओर

एक-एक दरवाजे हैं। बाईं ओर का दरवाजा अन्तःपुर से संबद्ध है और दाईं ओर का दरवाजा गली में खुलता है। गद्दी के इस दृश्यबंध (सेटिंग) पर खाँ साहब की युवावस्था से वृद्धावस्था तक की सारी क्रियाओं का अभिनय किया जाता है। अपने नाटकों में उन्होंने नृत्य का विधान तो किया है पर संगीत उड़ा दिया है। नृत्य और संगीत भारतीय जीवन से इस प्रकार बँधे हुए हैं कि इनसे किनारा कसना स्वाभाविक नहीं है। यथार्थवाद के नाम पर इनका गला घोंटना अपनी परंपरा से अपरिचित होने का सबूत देना है। पर 'पृथ्वी थियेटर' की सबसे बड़ी कमजोरी है पृथ्वीराज के व्यक्तित्व की महाप्राणता। यदि पृथ्वीराज के व्यक्तित्व को अलग करके देखा जाय तो इस रंग-मंच की सारी कला-व्यवस्था बहुत कुछ निष्प्राण और महत्वहीन प्रतीत होने लगती है।

हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए इधर जो सरकारी प्रयत्न हुए हैं उनका उल्लेख इसलिए भी आवश्यक है कि उनसे कुछ खास हाथ नहीं लग सका। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने काशी में रंगमंच स्थापित करने का निश्चय किया था। 'नटराज' के रूप में उसे जन्म देने का प्रयास भी किया गया। इसके तत्वावधान में दो नाटक खेले भी गए पर उनको औसत से कम सफलता मिली। 'नटराज' का मुख्य ध्येय था एक स्थायी रंगमंच की स्थापना पर आज तो 'नटराज' का स्वयं पता नहीं है।

दिल्ली की 'संगीत नाटक एकादमी' की ओर लोगों की आशा भरी दृष्टि लगा रही है पर उसने रंगमंच की स्थापना के लिए क्या कदम उठाया? इसके लिए कौन सी योजना बनाई? इनका उत्तर केवल नकारात्मक होगा। यदि वह इस दिशा में ध्यान देती और पहले कुछ नगरों और गाँवों में अस्थायी रंगमंच ही स्थापित कर देती तो भी रंगमंच की रूपरेखा कुछ स्पष्ट हो पाती।

परिशिष्ट ४

नाटक का सिद्धान्त पक्ष

यद्यपि आज की नई परिस्थितियों में नाटक के नव-नव रूपों और प्रयोगों को देखते हुए नाटक के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन किंचित् भिन्न रूप से करना होगा तथापि हम अपने प्राचीन महर्षियों की मीमांसाओं को नजर अंदाज नहीं कर सकते हैं। उनके ग्रन्थों में दीर्घकालीन चिंतन के फलस्वरूप जो गहन सैद्धांतिक विवेचन मिलता है उसका आज भी मूल्य है, उसके आलोक में ही हम नव-निर्माण का स्वप्न देख सकते हैं। पर नाट्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक समय के बाद हमारे देश का चिंतन बन्द हो गया किंतु योरप में नाट्य-सृजन और नाट्य-सिद्धान्त का चिंतन साथ-साथ चलता रहा है यद्यपि योरप की नाट्य-सिद्धान्त चर्चा भी घूम फिर कर अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्तों का ही चक्कर लगाती रही है। फिर भी पश्चिम की नवीनतम मान्यताओं के ग्राह्य तत्वों को इस विवेचन में नहीं भूलना होगा।

नाटक-रचना के सिद्धान्त

संस्कृत ग्रंथों में नाटकों के तीन भेदक तत्व माने गए हैं—वस्तु, नेता और रस।[1] रूपकों के दश भेद इन्हीं तत्वों के आधार पर किए जाते हैं। अरस्तू ने नाटक के—त्रासदी के—छः तत्व माने हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्व, दृश्य-विधान, गीत। इनमें से कथानक, चरित्र-चित्रण और विचार तत्व अनुकरण के विषय

---

१. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—दशरूपक।

हैं, दृश्य-विधान माध्यम है, और पद-रचना तथा गीत अनुकरण की विधि। अरस्तू के समय तक इनका उपयोग प्रत्येक त्रासदीकार ने किया था, अतः अरस्तू इन्हें त्रासदी के छः अनिवार्य अंग मानते हैं।[1]

वस्तु

वस्तु के दो भेद होते हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु का सम्बन्ध 'अधिकारी' से है। 'अधिकारः फलस्वाम्यम्' अर्थात् फल का स्वामित्व 'अधिकार' है और उस फल का स्वामित्व प्राप्त करने वाला पात्र 'अधिकारी' कहलाता है। जिस कथावस्तु का सम्बन्ध इस अधिकारी या नायक से होगा वह आधिकारिक कही जायगी। मुख्य कथा-वस्तु की प्रसंगानुकूल सहायता पहुँचाने वाली कथा प्रासंगिक (गौण) कही जाती है।

प्रासंगिक कथा-वस्तु के भी दो प्रकार हैं—पताका और प्रकरी।[2] वह कथा-सानुबंध कथा—जो काफी दूर तक चलती रहती है पताका कहलाती है और जो कुछ ही दूर तक चलकर समाप्त हो जाती है प्रकरी कही जाती है। पताका-कथावस्तु के नायक को पताका-नायक कहते हैं। यह नायक का अभिन्न सखा होता है पर गुण में उससे कुछ कम होता है। स्कन्दगुप्त में मालव की कथा पताका है और पताका-नायक है बंधुवर्मा।

वस्तु के उपर्युक्त भेद नायक या अधिकारी की दृष्टि से किए गए हैं। इतिवृत्त की दृष्टि से कथा के तीन प्रकार होते हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र। प्रख्यात इतिवृत्त इतिहास-पुराण से ग्रहण किया जाता है, उत्पाद्य में वृत्त कवि-कल्पित होता है, मिश्र में प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों का मेल होता है। प्रख्यात इतिवृत्त में ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखते हुए कवि अपनी कल्पना के अनुसार उसमें आव-

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र—डा० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० ६६

२. सानुबंध पताकाख्यं प्रकरीच प्रदेशभाक्।—दशरूपक, १।१३

श्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है। नाटक में अपेक्षित प्रभाव ले आने के लिए उसे अपनी कल्पना का उपयोग करना ही पड़ेगा अन्यथा वह सृजन क्या करेगा ? सर्जना के मूल में यह कल्पना ही तो है। कवि-कल्पित इतिवृत्त का आधार या प्रेरणा-स्रोत प्रायः वास्तविक होता है—हाँ वह प्रख्यात—ऐतिहासिक-पौराणिक—नहीं होता। मिश्र की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है, किन्तु उसका अधिकांश कवि-कल्पित होता है।

अरस्तू ने 'कथानक' को त्रासदी में अत्यधिक प्रमुखता दी है। उसने लिखा है—'अतः कथानक त्रासदी का प्रमुख अंग—वह मानो त्रासदी की आत्मा है।' चरित्र-चित्रण को उसने गौण स्थान दिया है। उसका यहाँ तक कहना है कि बिना चरित्र-चित्रण के त्रासदी का निर्माण हो सकता है, पर बिना कथानक के नहीं। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथानक के संघटन को वह अधिक कठिन समझता है। कथानक की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उसने यह भी एक तर्क दिया है कि राग-तत्त्व का संनिवेश प्रायः घटनाओं में रहता है। पर अरस्तू का कथानक संबंधी यह विचारणा बहुत से परवर्ती नाटककारों और आलोचकों को मान्य न हो सकी। उन्होंने स्पष्ट रूप से नाटक में चरित्र-चित्रण को अधिक गौरवपूर्ण बतलाया।

अरस्तू कथानक के दो भेद मानता है—सरल और जटिल। सरल कथानक का घटना-चक्र सीधा और इकहरा होता है जब कि जटिल कथानक स्थिति-विपर्यय, आकस्मिक घटना आदि के संनिवेश के कारण दुहरा होता है। उनके 'काव्य-शास्त्र' में आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हाँ, इतिवृत को उन्होंने भी दन्तकथा-मूलक, कल्पना-मूलक और इतिहास मूलक माना है। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार 'अरस्तू की अपेक्षा भारतीय मनीषियों की इतिहास विषयक धारणा अधिक व्यापक और लचीली थी, इसलिए उन्होंने इतिहास का व्यापक रूप में ही

प्रयोग किया। वास्तव में दोनों के मूल मन्तव्यों में भेद नहीं है—दोनों प्रसिद्ध या ख्यात कथाधार को ही महत्त्व देते हैं; अतः भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में अरस्तू के अनुसार त्रासदी की कथा का आधार सामान्यतः प्रसिद्ध या ख्यात ही होना चाहिए—'उत्पाद्य' का वे निषेध नहीं करते, किन्तु अधिक काम्य 'प्रसिद्ध' ही है।[1]

कार्यावस्था

नाटक में कार्य (व्यापार-शृङ्खला) की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। 'आरम्भ' में नाटक फल-प्राप्ति के लिए अत्यंत उत्सुक दिखाई पड़ता है, 'प्रयत्न' में वह उसे पाने के लिए शीघ्रता से उद्योगशील होता है। प्राप्त्याशा में प्राप्ति की आशा कभी रहती है कभी नहीं रहती है; यह ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति है जिसमें फल प्राप्ति की आशा के साथ विघ्न की आशंका भी बनी रहती है। 'नियाताप्ति' में प्राप्ति का निश्चय हो जाता है। समग्र फल की प्राप्ति 'फलागम' नामक अवस्था में होतीहै।

अरस्तू ने कार्य-व्यापार को दो भागों में बाँटा है—'प्रत्येक त्रासदी के दो भाग होते हैं—संवृति और विवृति, या निगति। कार्य-व्यापार के बाहर की घटनाएँ प्रायः उसके अपने किसी भाग से संयुक्त होकर संवृति की सृष्टि करती हैं, शेष विवृति होती हैं। संवृति से मेरा तात्पर्य ऐसे समस्त कथा-भाग से है जिसका विस्तार कार्य-व्यापार के आरंभ से उस प्रसंग तक होता है जहाँ कथा नाटक के उत्कर्ष या अपकर्ष की ओर मोड़ लेती है। विवृति का विस्तार इस परिवर्तन के आरम्भ से (कथा के) अन्त तक होता है।'[2] भारतीय

---

१. डा० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' भूमिका पृ० ६६-७०।

२. वही, पृ० ४८

कार्यावस्थाओं की प्रथम तीन अवस्थाएँ संवृति के अन्तर्गत आएँगी तो अंतिम दो अवस्थाएँ विवृति के।

इसके आधार पर पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में वस्तु की पाँच अवस्थाएँ मानी गईं—१—आरंभ, २—विकास, ३—चरमसीमा, ४—निगति और ५—परिसमाप्ति। भारतीय पाँच कार्यावस्थाओं से ये प्रायः अभिन्न हैं। निगति कथानक का वह उतार है जहाँ से अरस्तू की विवृति आरंभ हो जाती है। यही भारतीय नियताप्ति भी है जहां से कथानक मोड़ लेता है।

अर्थ-प्रकृति

नाटक का उद्देश्य है अर्थ, धर्म और काम के त्रिवर्गों में कभी एक, कभी दो और कभी तीनों की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि नायक इन त्रिवर्गों में से कभी एक को कभी दो को और कभी तीनों की कामना करता है। इस कामना की प्राप्ति के लिए पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ मानी गई हैं—— बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। वह अपनी कार्य-सिद्धि के लिए बीज बोता है। अतः बीज कथा के आरम्भ में स्वल्प मात्रा में निर्देशित वह तत्व है जो अंत में फल का कारण होता है। बिंदु में नायक अपने 'बीज' का अभिसिंचन करता है। शास्त्रीय अर्थ में जो बात निमित्त होकर अवान्तर कथा को प्रधान कथा से अविच्छिन्न रखते हुए उसको आगे बढ़ाती है बिंदु कही जाती है। पताका और प्रकरी का उल्लेख किया जा चुका है। कार्य नायक का वह साध्य है जिसके लिए सारे प्रयत्न किए जाते हैं।

यहाँ अर्थप्रकृति के सम्बन्ध में कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। अर्थ-प्रकृति में अर्थ शब्द किस अर्थ का द्योतक है? अर्थप्रकृति तथा कार्यावस्थाओं का स्पष्ट पार्थक्य क्या है? धनिक ने 'अर्थ प्रकृति' की व्याख्या करते हुए लिखा कि ये रूपक के नायक की प्रयोजन-

सिद्धि के स्पष्ट हेतु हैं। पर कार्य जो स्वयं प्रयोजन है उसका हेतु क्या है? वह स्वयं तो उसका हेतु हो नहीं सकता। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने प्रधान उपाय के सहकारी—सैन्य, कोश, दुर्ग, सामादि उपाय, द्रव्य, गुण, क्रिया, प्रभृति को कार्य कहा है।[1] अभिनवगुप्त का भी यही मत है।[2] 'कार्य' का यह अर्थ लेने पर इसकी संगति बैठ जाती है।

अब अर्थ प्रकृति और कार्यवस्था की विभाजक-रेखा भी ढूढ़नी चाहिए। किसी आचार्य ने अर्थ को रूपक के वाच्य के रूप में गृहीत किया था और इसके आधार पर रूपक के इतिवृत्त को पाँच खंडों में विभाजित किया था। पर अभिनव गुप्त ने यह कहते हुए आपत्ति उठाई कि फिर पंच-संधियों का क्या प्रयोजन रह जायगा? पंच-संधियाँ भी तो इतिवृत्त के स्पष्ट आवयविक खंड हैं। संधियाँ भी पाँच होती हैं—मुखसंधि, प्रतिमुखसंधि गर्भसंधि, विमर्शसंधि और निर्वहणसंधि। पहले में आरंभ अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृति का, दूसरे में प्रयत्न अवस्था और विंदु अर्थ प्रकृति का, तीसरे में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति का, चौथे में नियताप्ति अवस्था और प्रकरी का और पाँचवे में फलागम अवस्था तथा कार्य अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है। ऐसी स्थिति में अर्थप्रकृति को क्या माना जाय? सच पूछिए तो नाट्य ग्रंथों के विविध मत हमें इस संबंध में किसी निकर्ष पर नहीं पहुँचा पाते।

पर अर्थ-प्रकृतियों में पताका और प्रकरी का संनिवेश हमें इसके संबंध में स्वतंत्र रूप से विचार करने का निर्देश करता है। ये दोनों प्रासंगिक कथाएँ हैं जो मुख्य कथा को गति देती हैं। बीज, विंदु और कार्य आधिकारिक कथा की विकासात्मक अवस्थाएँ

१—नाट्य दर्पण, पृष्ठ ४७

२—अभिनव भारती, तृ० भाग पृ० १६

हैं। इन विकासात्मक अवस्थाओं के समानान्तर अरस्तू का पूर्णता-सिद्धान्त रखा जा सकता है।

अरस्तू ने कथा-वस्तु के मूल गुणों में पूर्णता कथानक का दूसरा मुख्य गुण माना है। 'त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एवं संपूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तार हो, क्योंकि ऐसी पूर्णता भी हो सकती है जिसमें विस्तार का अभाव हो। पूर्ण वह है जिसमें आदि, मध्य और अवसान हो। आदि वह है जो किसी हेतु का परिणाम नहीं होता; पर जिसके पश्चात स्वभावतः कुछ विद्यमान या घटित होता है। इसके विपरीत अवसान उसे कहते हैं, जो स्वयं तो अनिवार्यतः या नियमतः किसी अन्य घटना का सहज अनुवर्ती होता है, पर जिसका अनुवर्ती कुछ नहीं होता। मध्य वह है जो स्वयं किसी घटना (या घटनावली) का अनुगमन करता है और अन्य घटना (या घटनावली) उसका अनुगमन करती है।'[1] अरस्तू के आदि, मध्य और अवसान से बीज, बिन्दु और कार्य से आश्चर्य जनक समता है! अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थ-प्रकृति उस वस्तु-योजना का अंग है जिसके आधार पर नाटक अपने प्रयोजन की सिद्धि करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह नायक के वृत्त से संबद्ध है अथवा नाटक का बहिरंग है। कार्यावस्थाएँ नायक की मानसिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं की सूचक हैं। उसे नाटक का अंतरंग भी कहा जा सकता है। ये संधियाँ वे बंद हैं जहाँ से नाटक मोड़ लिया करता है।

यहाँ पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इन नियमों का अनुवर्तन करने वाले कितने नाटक लिखे गए। इसका उत्तर प्रसाद के नाटकों की वस्तु-योजना में विस्तार पूर्वक दिया जा चुका है। यहाँ पर उसका उल्लेख चर्वित चर्वण से अधिक नहीं होगा।

---

१. डॉ० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० २३

अभिनय और संवाद की दृष्टि से

अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु दो प्रकार की होती है—दृश्य और सूच्य। दृश्यकथा रंगमंच पर अभिनीत होती है। सूच्यकथा की सूचना मात्र दी जाती है। सूच्यकथाओं को अर्थोपक्षेपक अर्थात् अर्थ को आक्षिप्त करने वाला कहते हैं। ये पाँच होते हैं—विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य तथा अंकावतार। विष्कंभक और प्रवेशक दोनों में भूत वा भविष्य की कथाएँ सूचित की जाती हैं। पहले में सूचना देने वाले पात्र मध्यम श्रेणी के होते हैं और दूसरे में निम्न श्रेणी के। प्रवेशक का प्रयोग प्रथम अंक के प्रारम्भ में नहीं हो सकता पर विष्कंभक के लिए यह निषेध नहीं है। नेपथ्य से दी गई सूचना को चूलिका कहते हैं। अंक के अंत में अगले अंक में घटित होने वाली घटना की सूचना अंकास्य है। पिछले अंक के अंत में दिखाई देने वाले पात्र जब आगे के अंक में अभिनय करते हैं तो इसे अंकावतार कहा जाता है।

संवाद की दृष्टि से वस्तु तीन तरह की होती हैं—सर्वश्राव्य (सबके सुनने योग्य) नियत श्राव्य (नियत लोगों के सुनने के लिए) अश्राव्य (स्वगत)[1]

अन्विति-त्रयी

पाश्चात्य नाट्य शास्त्र में काल, स्थान और क्रिया की अन्वितियों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। महाकाव्य की चर्चा करते समय अरस्तू ने लिखा है कि…'त्रासदी को यथा संभव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित

---

१ विस्तार के लिए देखिए प्रसाद : नाटक की नई दिशा का स्वगत प्रकरण।

रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार में काल की सीमा का कोई बंधन नहीं है। यद्यपि पहले त्रासदी में भी (काल-विषयैक) वैसी ही स्वतंत्रता थी जैसी महाकाव्य में।[1] कुछ विचारकों का मत है कि अरस्तू ने यूनानी नाटक की एक प्रथा का उल्लेख मात्र किया है। अरस्तू ने अपनी ओर से कोई नियम-निर्धारित नहीं किया है। पर बाद में फ्रांसीसी नव क्लासिक लोगों ने इन्हें नाटक का अनिवार्य तत्व मान लिया। समय की अन्विति का तात्पर्य यह है कि नाटक में १४ घंटे की अवधि तक का ही दृश्य उपस्थित किया जाय। स्थान की अन्विति का मतलब यह है कि नाटक में ऐसे स्थानों पर क्रिया-व्यापार न होने चाहिए जहाँ अपेक्षित समय में पात्र गमनागमन न कर सकें। यदि नाटक के एक घटना दिल्ली में घटित हो रही है और दूसरी लंदन में तो यह नाटकीय मंच की सीमाओं को देखते हुए सामाजिकों को विश्वसनीय नहीं हो सकती। क्रियान्विति का अभिप्राय यह है कि मुख्य क्रिया-व्यापार से असंबद्ध कोई क्रिया-व्यापार नाटक में समाविष्ट नहीं हो सकता है।

अभिनवगुप्त ने भी कुछ इसी तरह की व्यवस्था देते हुए बतलाया है कि नाटक के एक अंक में 'एक दिवस प्रवृत्त' के कार्य दिखाए जाँय। एक दिवस के बाद की क्रियाओं को अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूचित करा देना चाहिए। भरत ने अर्थोपक्षेपकों पर भी समय का प्रतिबंध लगा दिया है। उनके मतानुसार अर्थोपक्षेपकों द्वारा भी एक वर्ष तक ही कथा सूचित की जा सकती है।

पर ये नियम पूर्व पश्चिम में कहीं पर दूर तक मान्य न हुए। भारत में इस तत्व पर कभी भी जोर नहीं दिया गया। पश्चिम की अन्विति त्रयी के संबंध में डॉ० जान्सन ने 'ऐसे ऑफ ड्रैमैटिक पोइजी के लगभग १०० वर्ष बाद लिखा है कि संभवतः नाटक को अधिक

---

१. डॉ० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी, अरस्तू का काव्य शास्त्र, पृ० १८

विश्वसनीय बनाने के लिए इन अन्विितियों को मान्यता दी गई। आलोचकों की दृष्टि में समय, स्थान और क्रियाओं की ऐसी नियोजना करनी चाहिए कि वे दर्शकों को असंभावित न प्रतीत हों। दर्शक नाट्यशाला में बैठे रहते हैं और उनकी आँखों के सामने राजदूत दूर-दूर की यात्राएँ करके लोट आते हैं, निर्वासित भटकते हैं और देखते-देखते निर्वासन की अवधि समाप्त कर वापस चले आते हैं। युद्ध की तैयारियाँ होती हैं, युद्ध भी होता है और फिर संधि का दृश्य प्रस्तुत दिखाई पड़ता है। इन प्रत्यक्ष असंगतियों के कारण नाटक की प्रभावान्विति बिखर जाती है। इसी प्रकार यदि एक घटना 'रोम में घटती है दूसरी मिश्र में तो यह भी दर्शकों की कल्पना में नहीं समाहित हो सकेगी।

जानसन ने आगे बतलाया है कि सच तो यह है कि दर्शक यह जानता है कि वह नाटक देखने आया है, रङ्गमञ्च रंगमंच है, अभिनेता केवल अभिनेता हैं। वह जब जानता है कि यहाँ (रङ्गमञ्च पर) न रोम है न मिश्र; तो फिर स्थान की अन्विति की आवश्यकता?

सच तो यह है कि इन अन्वितियों पर इतना जोर देकर पाश्चात्य नाट्य शास्त्रियों ने दर्शकों को जैसे कोरा मूर्ख समझ लिया था। जानसन ने इनके संबंध में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे अत्यंत महत्त्व पूर्ण हैं। आज कल तो एकांकी नाटकों तक में इन अन्वितियों की व्यर्थता सिद्ध होती जा रही है; फ्लैश-बैक की नई टेकनीक ने उन्हें भी पंगु कर दिया है। वास्तविकता का भ्रम उपस्थित करने में यदि और कोई विशेष अवरोध नहीं पड़ता तो अन्वितियों की उपादेयता का प्रश्न भी बेकार हो जाता है।

नेता—चरित्र-चित्रण

इसको दृष्टि में रहते हुए संस्कृत के आचार्यों ने स्वभाव भेद से चार प्रकार के नायक माने हैं—धीरललित, धीरप्रशांत धीरोदात्त और धीरोद्धत। धीरललित ललित कलाओं का प्रेमी रसिक व्यक्ति होता

है। धीरप्रशांत शांत प्रकृति का, धीरोदात्त उच्च कुल का गंभीर, वीर और उदार होता है। धीरोद्धत अहंकारी, दंभी, ईर्ष्यालु और उद्धत होता है। नायिकाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—स्वकीया, परकीया और गणिका।

वर्गीकृत चरित्र-विधान के कारण कीथ ने स्पष्ट ही कहा है कि चरित्र-चित्रण के लिए भारतीय नाटकों में यथेष्ट अवकाश नहीं है। नायक का उच्चवर्गीय तथा राज परिवार का या राजा होने के कारण नाटकों में सामान्य जीवन का चित्रण संभव न था। रस दृष्टि के कारण ही भारतीय आचार्यों को यह सीमा स्वीकार करनी पड़ी क्योंकि विशेष प्रकार के पात्र ही विशेष प्रकार की रस-निष्पति में सहायक हो सकते हैं।

नैतिकता से बँधे रहने के कारण अरस्तू का नायक भी विख्यात, समृद्ध और गुण सपन्न होता है। उसके अनुसार त्रासदी में मानव का भव्यतर चित्रण होता है। इस सम्बन्ध में अरस्तू का कथन है—'एक तो इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य परिवर्तन के अंकन में किसी सत्पात्र का सम्पात में पतन न दिखाया जाए—इससे न तो करुणा की उद्बुद्धि होगी, न त्रास की, इससे तो हमें आघात ही पहुँचेगा। साथ ही उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से संपत्ति में उत्कर्ष का चित्रण नहीं रहना चाहिए क्योंकि त्रासदी की आत्मा के इससे प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती। इसमें त्रासदी का एक गुण भी विद्यमान नहीं है। इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास को उद्बुद्धि ही। किसी खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नहीं हो सकेगा क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जागरित होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से।...अब इन दो सीमान्तों के बीच का चरित्र रह जाता है—ऐसा व्यक्ति जो

अत्यंत सच्चरित्र और न्याय परायण तो नहीं है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं, वरन् अपनी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह व्यक्ति अत्यंत विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए।[1]

इससे स्पष्ट है कि अरस्तू का आदर्श नायक एक विशेष प्रकार का होना चाहिए—वह सामान्यतः सच्चरित्र हो लेकिन अपने स्वभाव दोष के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो। केवल ऐसी स्थिति में ही नैतिकता और त्रास-करुणा का बंधन अस्खलित बना रह सकता है। इस तरह कहना न होगा कि अरस्तू के नायक की भी कुछ ऐसी ही सीमाएँ हैं जो भारतीय नाटक के नायकों की हैं।

आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण का विधान आमूल चूल बदल गया। अब नायक प्रत्येक स्थिति में अभिजात वर्ग का नहीं होता, वह हमारे समाज का जाना-पहचाना प्राणी होता है। वह अपने सामाजिक जीवन में अनेक परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ अथवा उनके अनुसार अपने को ढालता हुआ दिखाई पड़ता है। इब्सन के नाटकों ने चरित्र को यथार्थवादी दिशा दी। मनोविज्ञान के आविर्भाव के कारण मनुष्य के अवचेतन मन के स्तर पर स्तर उद्घाटित किए जाने लगे। फिर भी आज वर्गीय पात्रों की कमी नहीं है। हाँ, आज वर्ग का रूप बदल गया है। किसान, मजदूर, नेता, क्लर्क, प्रोफेसर, डाक्टर किसी न किसी वर्ग से ही संबद्ध हैं। आज उच्च या अभिजात वर्ग के अतिरिक्त मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के पात्र भी नायक होते हैं। यथार्थवाद—मुख्यतः समाजवादी यथार्थवाद—वर्गीय प्रवृत्ति का द्योतक है। व्यक्तिवाद के विकास के साथ-साथ चरित्रों की वैयक्तिक विशेषताओं की छानबीन भी आज के चरित्र-चित्रण की एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

---

1. डॉ० नगेन्द्र, महेन्द्र चतुर्वेदी : अरस्तू का काव्य शास्त्र, पृ० ३२

रस-तत्त्व और विरेचन का सिद्धान्त

भारतीय नाट्यशास्त्र के भेदकों में रस भी एक है, पर इसका स्थान इतना प्रमुख है कि इसे काव्य की आत्मा कहा गया। सामाजिकों को रस से उद्रिक्त करना नाटकों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। विभिन्न मतवादियों ने रस को अपने घेरे में बाँधने की चेष्टा की है पर यह है विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण। भारतीय नाटकों में वस्तु और नेता साधन हैं किन्तु रस साध्य है। इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा है कि 'भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को मुख्य तत्व मानता है, चरित्र-निर्देश उसके लिए अपेक्षाकृत गौण वस्तु है और वस्तु-विकास और भी ऊपरी तथ्य है। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी नाटक वस्तु या कथानक को नाटक का सर्वप्रमुख तत्व मानता है और चरित्र-चित्रण को दूसरा स्थान देता है (यद्यपि इन दोनों की प्रमुखता के प्रश्न को लेकर भी वहाँ पर्याप्त मतभेद है)। रसात्मक आस्वाद या सौन्दर्यबोध को पश्चिमी नाटक बहुत दिनों तक स्वतंत्र तत्व मानते ही न थे। इसका कारण यह है कि काव्य की रसात्मक या सौन्दर्य विधायिनी सत्ता की स्वतंत्र प्रतीति पश्चिम में बहुत बाद को हुई और काव्यानुभूति एक विशिष्ट आध्यात्मिक तथ्य है, यह निर्णय तो और भी नया है।...भारत में इस सिद्धान्त की स्थापना द्वारा काव्य के आनन्दात्मक (सौन्दर्य मूलक) स्वरूप की अभिज्ञता बहुत पहले हो चुकी थी। इसलिए भारतीय नाटककार रस को नाटक की आत्मा मानकर अन्य तथ्यों को उसका अनुवर्ती साधक या सहायक मानते रहे हैं।'[1]

अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त भी आस्वाद्य की समस्या से ही संबद्ध है। विरेचन की प्रक्रिया द्वारा अतिरिक्त उद्वेगों का जो शमन होता है और भावों का जो संस्कार होता है वह दर्शकों को ऐसी सुखात्मक

---

१. नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ० २२८-२२९।

स्थिति में ला खड़ा करता है जिससे वे उनके मनोमुकुर विशदीभूत हो जाते हैं और वे सुखात्मक अनुभूति उपलब्ध करने में समर्थ होते हैं। यह स्थिति भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति से बहुत भिन्न नहीं है। त्रासदी का मुख्य ध्येय भी यही है। फिर भी भारतीय रस सिद्धान्त और पाश्चात्य विरेचन-सिद्धान्त में अंतर है। विरेचन का सिद्धान्त अपने आप में एक अभावात्मक स्थिति है। अर्थात् अपने आप में इसमें आनंदोद्रेक की क्षमता नहीं है। इससे दुःख के अभाव की स्थिति उत्पन्न होती है। '...अतः दुःख के अभाव का अर्थ हुआ आत्मा की क्षतिपूर्ति—अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण। यह स्थिति भी निश्चय ही अनुकूल है; परन्तु आत्मा की वृद्धि अथवा चेतना के उत्कर्ष के समकक्ष तो वह नहीं हो सकती। अरस्तू प्रतिपादित विरेचन-जन्य प्रभाव भट्टनायक-अभिनव के रस में यही अंतर है और यह अन्तर साधारण नहीं है—'क्षतिपूर्ति' और 'लाभ' का अंतर है।'[1]

पर क्या आज की बदली हुई परिस्थितियों में पुराने सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों माना जा सकता है? क्या आज भी नाटक का चरम साध्य रस ही है? आज भी कथानक, चरित्र-चित्रण आदि केवल रसानुभूति के उपकरण मात्र हैं? स्पष्ट ही इनके उत्तर नकारात्मक हैं। आज के बदले हुए जमाने में हमारे हृदय और बुद्धि में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, हमारे नैतिक मूल्य तेजी से बदल रहे हैं। जीवन के पुराने मूल्य बहुत कुछ धुंधले पड़ गए हैं। नए विज्ञान और मनोविज्ञान के प्रकाश में आज के मानव को गहराई में पैठने की सुगमता प्राप्त हो गई है।

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप नाटक में ही नहीं साहित्य के अन्य रचना प्रकारों में—उनकी विषयवस्तु, चरित्र-चित्रण, रूप-शिल्प,

---

१. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका पृ० १०४-५।

सौन्दर्य-बोध में—नए-नए रंग-ढंग दिखाई दे रहे हैं। प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आदि से नई-नई रचनाओं का शृङ्गार किया जाने लगा। इब्सन और शा ने समस्या नाटकों और वैचारिक नाटकों को जन्म देकर लोगों को आश्चर्य-चकित कर दिया। पर आज शा के जन्मस्थान में ही उसके नाटकों का अवमूल्यन आरंभ हो गया है। अब नाटक में संगीत-विधान की उपयोगिता की चर्चा की जाने लगी है, स्वगत को भी अपनाया जा रहा है, उसके काव्यात्मक पक्ष पर बल दिया जा रहा है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से अपेक्षाकृत स्थिर मानवीय तत्वों की ओर बढ़ने का उपक्रम किया जा रहा है। यह ठीक है कि आज के संवेगों में पहले से अन्तर आ गया है, इसलिए नाटक की रचना-पद्धति तथा उसमें अभिव्यक्त भावानुभूति को नए ढंग से सज्जित करना पड़ेगा—पर इसके द्वारा भी रसानुभूति ही जागरित की जाएगी। पूर्व-पश्चिम के क्लासिकल नाटकों की श्रेष्ठता का यह मूल रहस्य है।